ज्योतिष तथा जीवन के अनबूझे रहस्य

ज्योतिर्वेद

के विभिन्न सोपान. भाग 2
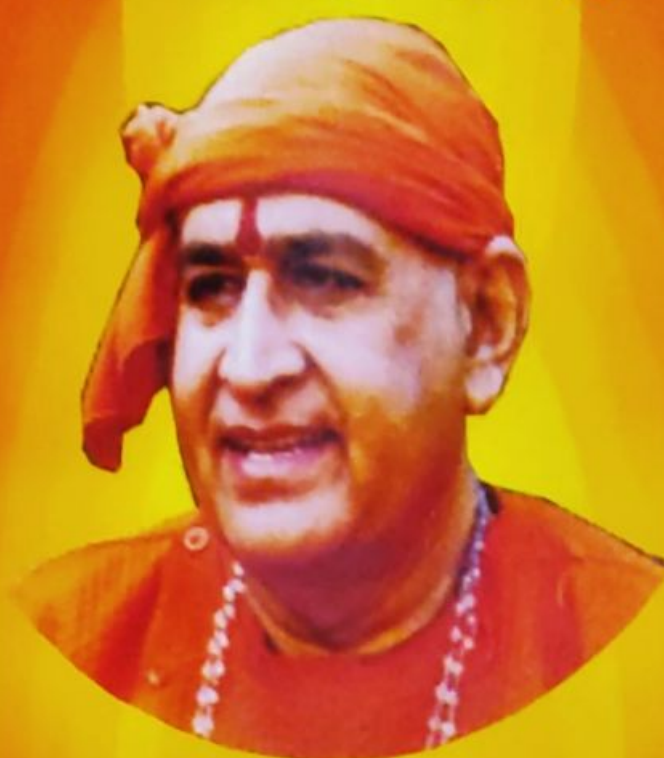
स्वामी सनातन श्री

ज्योतिष तथा जीवन के अनबूझे रहस्य

ज्योर्तिवेद

के विभिन्न सोपान . भाग २

श्रद्धेय स्वामी सनातन श्री जी के श्रीमुख से
श्री सनातन आश्रम
गौराबाग, कुर्सी रोड, लखनऊ

प्रस्तुति : राजेश्वरी शंकर
संपादिका : 'द टाइम्स ऑफ एस्ट्रोलॉजी

NISHKAAM PEETH PRAKASHAN
(Publication Divison of "The Times of Astrology")

(श्रद्धेय स्वामी सनातनश्री जी)

श्री सनातन आश्रम
गौराबाग, कुर्सी रोड,
लखनऊ – 226007
फोन : 0522–362686, 0522–361796
Email- *ssshree@sify.com*

प्रास्ताविक

"संन्यासी के श्रीमुख से निस्सृत प्रत्येक भाब्द स्वतः प्रमाण होता है", इसमें कोई सन्देह नहीं रहेगा, पाठकों को।

वस्तुतः सनातन परंपरा से हमारा विचलन निहित स्वार्थों की मात्र तात्कालिक उपलब्धि है। ऐसे दौर में जरूरत थी हमें सच्चे संन्यासियों के आशीषों की, जो सनातन परम्परा के ऊपर पड़ी राख की परतों को अपनी प्राण ऊर्जा से विस्फारित कर समूचे संसार को उत्प्रेरित करते ताकि **'सनातन दर्शन'** और उसकी परम्परा, जनजीवन का फिर से एक अनिवार्य अंग बनते। खेद है कि संन्यास के मर्म को समझे बिना, अनेकों व्यवहार बुद्धि में किंचित अधिक कुशल व्यक्तियों ने, संन्यास के बाह्याडम्बर को तो अपना लिया किन्तु अपने अन्दर संन्यास वृत्ति को नहीं जगा पाए और संन्यास के वस्त्रों में सजे संवरे इन स्वयभूं व्यक्तियों के प्रति उमड़े जन मानस के प्यार और सम्मान पर, जो इन्हें सहज रूप में एक बार मिलना शुरू हुआ, तो कहीं बाद में यह छूट न जाए, इस व्यामोह और व्यापार बुद्धि के चलते, वे सचमुच अपने ढोंग और आडम्बर का एक विशाल साम्राज्य खड़ा करने को मजबूर हुए। ऐसा करके, न सिर्फ इन तथाकथित संन्यासियों/संतों ने अपना अहित किया बल्कि सच्चे संतों और संन्यासियों को पृष्ठभूमि में ढकेल कर जनमानस, सचराचर और

सनातन दर्शन के असली रूप के साथ घोर अन्याय कर स्वयं घृणित अपराधी बने।

*ऐसे माहौल में, "**श्रद्धेय स्वामी सनातन श्री**" जी की इस भरत खण्ड भारत में प्राणवान उपस्थिति, बीसवीं और इक्कीसवीं शताब्दी का एक बहुत बड़ा गौरव है, सनातन संस्कृति, दर्शन, अध्यात्म और जीवन का एक ऐतिहासिक अध्याय है, जहाँ संन्यासी, समाधि और समाधान के प्रत्यय सदैव के लिए अक्षुण्ण हो गए हैं।*

मुझे बताया गया था कि लखनऊ में कुर्सी रोड पर '**श्री सनातन आश्रम**' है और वहाँ एक विलक्षण संन्यासी स्वामी सनातन श्री हैं। यह आश्रम अद्‌भुत है, जहाँ पशु, पक्षी यथा कुत्ते, बिल्लियों की योनि में अवतरित जीवात्माएँ "भजो राम! राम! राम! भजो। गोविन्द! राधेश्याम।" के भजन गाते हैं। सामान्यतः यह विचित्रता आश्चर्य पैदा करती है, ऐसा चमत्कार तुरन्त देखने जाने की ललक पैदा करती है, हर मनुष्य के मन में। पर मुझे लगा, यह भी लोगों को आकर्षित करने का ढोंग भर हो सकता है किसी आश्रम का, उस देश में, वर्तमान में जिसमें संन्यासी / संत, अध्यात्म को छोड़ अपने चमत्कारी बाजीगरी करतबों से अपने–अपने प्रतिष्ठान बनाए बैठे हैं।

पुनः एक मित्र ने श्रद्धेय स्वामी जी के बारे में एक प्रसंग सुनाया :

> *"एक व्यक्ति बदहवास सा आकर आश्रम में स्वामी सनातन श्री जी के चरण कमलों में आ गिरा। बोला, 'स्वामी जी! मुझे बचाइए। मैं तीन दिन और तीन रात से सो नहीं सका हूँ। भय और आतंक से पूरा जीवन भर गया है। मुझे बचाइये।"*
>
> *"बात क्या है, भगवन?" 'गोविन्द हरि! हरि गोविन्द' कहते हुए स्वामी जी ने पूछा।*
>
> *'मेरे पड़ोसी ने मुझे जमकर गालियाँ दी हैं, खूब पीटा है, देखिए, मैं तीन दिन से अपना टूटा हुआ हाथ लिए घूम रहा हूँ। प्लास्टर कराने तक बाहर नहीं निकला हूँ। अगर उसने देख लिया और बाहर पा लिया, तो फिर और मारे बिना नहीं छोड़ेगा, ऐसा मुझे लगता है। मुझे बचा लीजिए स्वामीजी" वह व्यक्ति बारबार गिड़गिड़ाए जा रहा था।*
>
> ***'गोविन्द हरि! बन्धु! तुम्हारा कष्ट दूर होगा कैसे? भजना चाहिए था तुम्हें गोविन्द को, जो सबका कष्ट दूर करते हैं, और भज रहे हो तुम तीन दिन से अपने पड़ोसी को, जो कष्ट दे रहा***

है। जिसने कष्ट दिया है, उसे भजोगे, रातदिन उसी का ध्यान करोगे तो वह और कष्ट नहीं देगा, तो क्या करेगा? गोविन्द हरि! स्वामी जी ने सहज सरलता में उत्तर दिया।

उस व्यक्ति का कष्ट दूर हुआ या नहीं या कैसे दूर हुआ, यह जिज्ञासा मुझे नहीं हुई। बस जिज्ञासा हुई तो इतनी कि यह कोई जेनुइन सन्त है, जो खो नहीं गया है, इस आडम्बरपूर्ण आधुनिक युग में; तुरन्त दर्शन करना चाहिए।

उसके बाद का वृतान्त, नितान्त निजी है। सार्वजनिक है तो इतना कि ऐसी आत्मीयता, ऐसा स्नेह, ऐसा ज्ञान और ऐसी शांति कहीं और नहीं मिलती। मिलकर लगता है, वापस जड़ों को पा लिया हो पेड़ ने जैसे, अब उसे सूखने और मुर्झाने का कोई डर नहीं।

"सत्य वही है जो सरलतम तरीके से भासने लगे आपको, और जिसका सत्यापन आपका अन्तर्मन अविलम्ब कर दे, अन्यथा, वह सत्य नहीं, सत्याभाष होगा, और कभी–कभी मात्र तात्कालिक सत्य होगा।" यह कसौटी भी, सच के अनुयायियों को श्रद्धेय स्वामी जी से ही प्राप्त होती है। सत्य, जो सार्वजनीन है, सार्वकालिक है, न काल की अपेक्षा रखता है न देश की, सार्वत्रिक रूप से सत्य है, सदा–सदा, वह ही ऋत है, जिसका प्रकटन ऋग्वेद में हुआ।

जितना कुछ वेद को मैंने जाना है, श्रद्धेय स्वामी जी से ही सीखा है, जाना है और प्रयासरत हूँ।

वस्तुतः तो वेद, अनेकों विद्वानों के विद्वतापूर्ण भाष्यों के ढेर में खो गए हैं जैसे कि बहुमूल्य हीरे की अँगूठी, कूड़े के किसी विशालकाय ढेर में खो जाए।

आज से लगभग 42 वर्ष पूर्व लखनऊ में नवरात्र के अवसर पर प्रकट किए गए वेद के रहस्य जो स्वामी जी के श्रीमुख से निस्सृत हुए, वे निरन्तरता में सम्पूर्ण वेदों, सनातन दर्शन की वास्तविक कुंजिकाएं हैं, जिनका पारायण यथाक्रम से नवरात्र में विशेषतः और सदैव ही, सामान्यतः जो भी करेंगे, मनन करेंगे, वे वेदों के रहस्यों को जानने की क्षमता प्राप्त करने की दिशा में सक्रिय कदम उठाएंगे, इसमें सन्देह नहीं।

महामुनि याज्ञवल्क्य, वाल्मीकि तथा नाना ऋषियों द्वारा पूर्व में मुखरित श्री राम कथा के अनन्य रहस्य, जब श्रद्धेय स्वामी जी के श्रीमुख से अनावृत होते हैं, तब तुरन्त लगने लग पड़ता है कि सभी पूज्यनीय ऋषिगण, भगवान राम की कथा के बहाने से हमें हमारी ही गाथा सुना रहे हैं, हमें हमारी उत्पत्ति और जीवन संपादन का स्वरूप दिखला रहे हैं, हमें सरलतम तरीके से वेद पढ़ा रहे है जिनके बारे में कालान्तर में यह भ्रम फैला दिए गए कि वेद समाज के एक वर्ग विशेष के लिए

ही पठनीय हैं और समाज के एक दूसरे वर्ग विशेष के लिए तो इसका नाम तक लेना अपराध है। ऐसी ही भ्रान्त धारणाओं और मान्यताओं को बलिष्ठ करते जाने की चालाकियों से सम्पूर्ण विश्व का भरण पोषण करने वाले इस भरत खण्ड, **भारत** के अब विघटन तक की नौबत आ पहुँची है। ऐसे में जब आपको अपना स्वयं का शुद्ध शाश्वत परिचय इस ग्रन्थ में मिलता है तो मानो आपका पुनर्जन्म सा होता है, जिसे आपका 'द्विज' होना ही कहा जाएगा, "जन्मना जायते शूद्राः संस्कारात् द्विज उच्यते" की उक्ति आप पर चरितार्थ हो उठती है। जब तक आपको अपना स्वयं का सही परिचय नहीं मिलता, भला आप याज्ञवल्क्य, वाल्मीकि, वशिष्ठ, विश्वामित्र और नारद जैसे ऋषियों का परिचय क्या पाएंगे?

चाहे कथा राम की हो या कृष्ण की, दोनों का उद्देश्य एक ही है, वेदों के रहस्य को सरलतम तरीके से आपके पास पहुँचाना, आपको अपना जीवन दर्शन कराना और यह अहसास कराना कि इस सृष्टि के आप एक बहुमूल्य और जिम्मेदार अंग हैं, इस सृष्टि के संचालन, संवरण और संतुलन में आपकी एक अहम् भूमिका है। इसीलिए महाभारत आपके अन्दर चलता है तो राम–रावण युद्ध भी आपके ही अन्दर चलता है। राम कथा में जहाँ दसों इन्द्रियों को (रथ कर) निग्रह कर व्यक्ति दशरथ हो जाता है और (आत्मा) राम उसके (हृदय) आँगन में बसे हुए प्राप्त होते हैं वहीं यदि वह व्यक्ति दसों इन्द्रियों को दस मुँह (आनन) बनाकर सम्पूर्ण प्रकृति/सृष्टि का दोहन करने लगता है, अपना आहार बना लेता है तथाकथित सुखोपभोग में लिप्त हो जाता है तो वह दशानन (रावण) हो जाता है। कृष्ण कथा में (आत्मा) कृष्ण, जीव (जीव बुद्धि) अर्जुन के सारथी बनकर मायाओं के महासमर महाभारत युद्ध को जीतने का जो मार्ग प्रशस्त करते हैं, यह सब वेद, जो आपको अपने असली स्वरूप को प्राप्त करने का ज्ञान प्रमुखतः है, का ही सरलतम रूप से दिग्दर्शन है जो श्रद्धेय स्वामीजी की अमर वाणी उनके साहित्य के रूप में अक्षुण्ण रखे हुए है।

मन ही दशरथ और मन ही दशानन है, बिल्कुल एक दूसरे के विपरीत। जहाँ इन्द्रियाँ अर्न्तमुखी हुईं, दशरथ बना, राम को पाया। जहाँ इन्द्रियाँ वाह्योर्मुखी हुईं, सब सुख बाहर खोजा, लूटा खसोटा सचराचर को, अपने को ही केन्द्र में रखा, सबको अपना अनुचर बनाने की प्रकृति जगी तो मन दशानन हो गया।

मन क्यों दशानन होना चाहता है? क्योंकि उसके पास सोने की लंका है? उसके पास अकूत धन सम्पदा है? अपार बहुमूल्य और सैन्य बल है? भोगने के लिए राक्षसियों से लेकर अप्सरायें तक है? .....बहुत बड़ा अपराजेय राजा है? संभवतः यह सब पाने की लालसा हमें दशानन बनने को प्रवृत्त करती हो। लेकिन हम एक बात भूलते हैं जो श्रद्धेय स्वामी जी बार बार हमें याद दिलाते हैं। "यदि रावण (दशानन) इतना! इतना!! कितना!!! बड़ा राजा है, योद्धा है तो दशरथ क्या

भिखारी है? वह भी तो चक्रवर्ती सम्राट है, क्या नहीं है उनके पास? योद्धा ऐसे कि देवता भी उनकी मदद माँगते हैं? फिर दशानन मार्ग पर मन को क्यों ले जाना? दशरथ मार्ग पर आओ।''

दशानन मार्ग से दशरथ मार्ग पर मन कैसे आए? जैसे आए, वही तो साधना का मार्ग है जो श्रद्धेय स्वामी जी के अन्य अमर ग्रंथ 'साधना विज्ञान' में अपनी सम्पूर्णता में प्रकट हुआ है। जीवन के इन अनबूझे रहस्यों का उद्‌धाटन जहाँ श्रद्धेय स्वामी जी की अमर वाणी में होता हैं वहीं उनके प्रमाण हमें सचराचर में दिखाने का परिदृश्य भी स्वामी जी हमारे सामने उपस्थित करते रहते हैं। जो कुछ सचराचर में सहज उपलब्ध नहीं हो प्रमाण के लिए, उसे जीवन में भी हम सामान्यतया प्रमाणिक, आदि और अनन्त समय तक चलने वाला, नित्य सनातन अवयव कैसे मान लेंगे? यह सचराचर की पारदर्शिता '**ज्योतिर्वेद के विभिन्न सोपानों**' में श्रद्धेय स्वामी जी के अलावा कोई और इस युग में प्रस्तुत कर सकता हैं, इसका गुमान भी मुझे नहीं है। अपितु यह संभवतः इस युग में एक स्वर्णिम अवसर है, सनातन दर्शन, वेद और अध्यात्म की सही राह पर चलने का, और यह आशीर्वाद स्वरूप श्रद्धेय स्वामी जी ने ही अवसर दिया है मुझे, कि मैं निमित्त बनूँ **'ज्योतिर्वेद के विभिन्न सोपान'** आप तक कई श्रृंरवलाओं में पहुँचाने के लिए ताकि आप सब स्वयं इस अमर ग्रंथ के पारायण के साथ ही जीवन और ज्योतिष के अनबूझे रहस्यों तक पहुँच सकें, उसके वास्तविक स्वरूप को ज़ान सकें, अपने आपको पहचान सकें और हो सके तो अपने असली स्वरूप को पा सकें। प्रस्तुत ग्रंथ इसी अमर श्रृंरवला का द्वितीय भाग है जो पहले भाग से स्वतंत्र भी है और पहले भाग का संम्पूरक भी।

आप सब पाठकों को ईश्वरत्व प्राप्त हो, श्रद्धेय स्वामी जी का अनुग्रह और आशीर्वाद हो, दशरथ मार्ग हो आपका और उच्चतम ज्योतिर्मय जीवन हो आप सबका।

राजेश्वरी शंकर
संपादिका
('द टाइम्स ऑफ एस्ट्रोलॉजी)
ज्योतिर्वेद की द्विभाषी मासिक पत्रिका
1009, इन्द्रप्रकाश बिल्डिंग, 21 बाराखम्बा रोड,
नयी दिल्ली – 110 001
फोन : 011–3717738, 011–3717743, 0522–769462
Email:*editor@thetimesofastrology.com*

अनुक्रम

(श्रद्धेय स्वामी सनातनश्री जी)

श्री सनातन आश्रम
गौराबाग, कुर्सी रोड,
लखनऊ – 226007
फोन : 0522–362686, 0522–361796
Email- *ssshree@sify.com*

आत्मपरिचय

सांझ की चादर गहरे सुरमई रंग में धीरे धीरे कुछ स्वप्निल, कुछ उन्नीदी सी होने लगी है। वक्ष एवं लता कुंजों से लिपट कर आते वायु के झोंके ठन्डक की मीठी सी सिहरन देने लगे हैं। अलाव की गर्मी से वातावरण सुखद हो उठा है। आश्रम का शांत मौन फिर कल्पनाओं में नाना रंग भरने लगा है। कौन हूँ मैं ? मुझसे बहुत बार पूछते रहे अजनवी भक्त ! क्या उत्तर दूँ उन्हें, क्या कहूं उनसे ! जिन्हें कल्पना भी नहीं है कि सन्यासी का अतीत नहीं होता। सन्यासी वर्तमान ही जीता है। काश ! वे भोले लोग जान पाते कि उनका अतीत भी वह नहीं है, जिसे वे अतीत मान बैटे हैं। हम सब एक लम्बी यात्रा के मुसाफिर हैं। हम सब ! मनुष्य की योनि तो एक पड़ाव भर है। पड़ाव तो किसी का परिचय नहीं हो सकता। जाति, गोत्र अथवा सम्प्रदाय भी किसी के सही परिचय कदापि नहीं हो सकते। एक आत्मा ही सचराचर का जनक है, पिता है। हम सब उसकी सन्तान हैं। **एकोब्रह्म द्वितीयोनास्ति !** आत्मा का गोत्र एक ही है, ब्रह्म गोत्र !

प्रकृति ही समान रूप से माता है। सचराचर ही मिलकर हम सबको बना रहा है। तथाकथित माता पिता उन पात्रों की भांति हैं जिनमें प्रकृति और पुरुष ने ढालकर बनाया है, हम सब को, समान रूप से। यह तो सबकी समान पहचान है। अलग वाली पहचान क्या हो ? पद, डिग्रीयां अथवा उपलब्धियां ? वह सब जलाने के उपरान्त ही व्यक्ति अग्निवेश होता है। अपने तथाकथित अतीत की चिता सम्पूर्ण भाव से जलाकर, भौतिक तथाकथित नाते रिश्तों के साथ अपनी भी चिता जलाकर ही वह इस मार्ग की ओर अग्रसर होता है। फिर उन्हें क्या उत्तर दूँ ? ये प्रश्न मुझसे विद्वत समाज ने पूछे हैं, यह जिज्ञासा विश्वविद्यालयों ने तथा पत्रकार मित्रों ने भी बहुत बार की है। जब भी वे मुझसे पूछते हैं, चौंककर स्वयं से पूछने बैठ जाता हूँ, 'कौन है तू, रे सन्यासी ? शाश्वत जीवात्मा का परिचय क्षणभंगुर तो नहीं हो सकता ! यात्री का परिचय क्षणिक पड़ाव देना तो कोई समझदारी नहीं! जो क्षण भर में बदल जाये उसे परिचय कहना कोई समझदारी

तो नहीं ? सोचता हूँ क्यों न सबको अपना परिचय दे दूं ! एक बार सदा के लिये। सम्भव है मेरे परिचय से उन्हें अपना परिचय भी मिल जाये। सम्भव है उन्हें बिन पूछे सबका सही एवं सटीक परिचय मिल जाये सदा के लिये !

हवा में ठन्डक गहराने लगी है। पैरों के पास सो रहा भेड़िये का बच्चा कुछ सिकुड़ गया है। लकड़ियों को आग में डाल देता हूँ। कलुआ अभी शहर से लौटा नहीं है। शहर से बाहर, रिज़र्व फारेस्ट के मुहाने पर इस आश्रम की भी अपनी ही एक कहानी है। मैंने इस भेड़िये के बच्चे का नाम मोहन रखा है। बहुत ही भोला, सीधा और आज्ञाकारी है। इसकी मां इसको मुझे सौंप गयी थी। कलुआ ने आपत्ति भी की थी पर मैंने इसे रख लिया। इसके सांसारिक माता पिता अर्थात भेड़िया दम्पत्ति अपने शेष दोनो बच्चों को लेकर चले गये। फिर कभी लौटकर देखने भी नहीं आये। मैंने इसमें मोहन माधव ही देखा है। आश्रम को इसने बहुत अच्छे से आत्मसात कर लिया है। विशुद्ध शाकाहारी तो है ही, सब जीवों को बहुत प्यार करता है। गायों को और कुत्तों को अपनी जिम्मेवारी मानता है। बिल्लीयों का भी दोस्त है। गांव के लड़के भी निर्भय होकर इससे लिपटे रहते हैं। अब कलुआ को भी इससे कोई शिकायत नहीं है।

जीवन एक ऐसी पहेली है जिसे युगों ने सुलझाना चाहा पर सुलझने के स्थान पर यह उलझती ही चली गयी। युग बीतते रहे, पहेली के उलझाव नित नये बढ़ते चले गये। ज्यों ज्यों सुलझाना चाहा, त्यों त्यों यह अधिक उलझती गई। सन्यास, इसको सुलझाने की दिशा में उठ आया एक कदम ही तो है। सुरमई सांझ की चादर में लिपट गये मौन में सघन कुंजों को घूरते हुए अपने भीतर गहरे उतरने का आनन्द ही कुछ और है। विचारों की रस्सियों से अपने अन्तर को मथ डालने के साथ अनन्त अतीत के युगों में उतर जाना, निस्सीम असीम में घुलमिल कर कल्पनाओं को चलचित्र सा देखना, एक अदभुत विचित्र अनकहा एहसास है। गूंगे का गुड़ है। सांझ कब रात्रि की काली चादर को ओढ़ नये सुहाग सजा लेती है, बस पता ही नहीं चलता है। अतीत की अमराईयों में बस गया मन वर्तमान का भान ही नहीं लेता।

कलुआ लौट आया है। उसके पास ढेर सारी बाते हैं मुझे बताने के लिये। परन्तु उसे यह भी याद है कि मोहन और मैं अभी भूखे हैं। हाथ पांव सेंककर वह खाने की तैयारी में लग जाता है। मोहन उसे भीतर तक छोड़कर फिर मेरे पास आकर बैठ जाता है। सोचता हूँ क्यों न आपको भी मैं दावत दूँ मेरी कल्पनाओं में आने

की। मेरा परिचय भी मिल जायेगा आपको और यह भी सम्भव है कि आप अपना भी सही परिचय खोज निकालें। कहते हैं दुनिया को जान लेना इतना मुश्किल नहीं है। स्वयं को जान पाना आकाश से गंगा उतारने जैसा भागीरथ प्रयत्न है। आप चाहें तो इस सुखद यात्रा पर हमारे सहभागी हो सकते हैं। आपको बस इतना ही करना है कि आप हमारे साथ बने रहें।

अतीत के अन्तराल तो हैं लाखों वर्षो से भी कहीं अधिक। इतनी गहराईयों में हमें धीरे धीरे उतरना होगा। सर्वप्रथम हम छह हजार वर्ष पूर्व के समय में प्रवेश करेंगे। यह काल द्वापर युग और कलियुग की सीमा का काल है। द्वापर युग समापन की ओर है तथा थोड़े समय के उपरान्त कलिकाल के हाथों में वक्त की लगामें होंगी। हम द्वापर युग की सीमा में हैं।

इस युग का परिवेश कलिकाल से अर्थात वर्तमान युग से भिन्न है। धार्मिक, आध्यात्मिक, सामाजिक, आर्थिक तथा भौतिक परिवेश एवं शिक्षा विचार और मान्यताओं को जानने समझने के लिये हमें किसी आधार को खोजना होगा। आधार से हमारा तात्पर्य एक शिशु से है। उसी के द्वारा हम अबोध अवस्था से बढ़ते हुए समय को सूक्ष्मता से जान पायेंगे।

जो दूर से दिखता है वह कोई जरूरी नहीं कि पास जाने पर भी वैसा ही दिखाई दे। सब कुछ बदल सकता है। इसलिये निर्मल शिशु के समीपस्थ होंगे हम। वहां से निरन्तर उसके विकसित्त होते व्यक्तित्व के साथ ही अपने अनुभवों का विस्तार करेंगे हम। इस खेल को धैर्य एवं आनन्दपूर्वक लेते हुए अपने सत्य ज्ञान का विस्तार करेंगे। साथ ही अपनी सही पहचान को खोजने में प्रयत्नशील रहेंगे। अपने मन और कल्पनाओं की डोर को खोल दें। तर्कों को अल्पकाल के लिये विश्राम दे। सहज मन से प्रथम जानने का प्रयास करेंगे, फिर विश्लेषण ।

भरतखण्ड ! भारती !

उस काल में इस धरती के मानव का जातिसंज्ञक परिचय एक ही है। वे भरतखण्ड के महान भारत कहलाते हैं। यही उनका जाति अथवा ज्ञाति संज्ञक परिचय है। हम सब उन्हीं के वंशज हैं। हिन्दु, आर्य, इन्डियन जैसे शब्दों को यहां कोई नहीं जानता है। पूजा, हवन आदि के पूर्व में लिये संकल्प में भी वे इन्हीं शब्दो का प्रयोग करते हैं, यथा द्वापरयुगे समापन पादे वैवस्वत मनवन्तरे जम्बुद्वीपे भरतखण्डे।

जम्बु महाद्वीप पर भरतखण्ड में   इसका कारण क्या है ? क्या किसी राजा भरत के कारण इस देश का नाम भरतखण्ड पड़ा है ? जब हमने जानना चाहा है तो लोग हम पर आश्चर्य के साथ ही तरस खा रहे हैं। बेचारे ! लगता है किसी सुदूर जंगल से पहली बार पकड़ कर लाये गये हैं। इतना भी नहीं जानते हैं।

यह हमारा जातिसंज्ञक परिचय है। हमारी धार्मिक, वैचारिक, समसामाजिक एवं परिपक्व मान्यता का प्रतीक है। यह नाम यूँही किसी के नामान्तर नहीं लिये जाते। भरत शब्द का प्रयोग केवल भरतार अर्थात भरण पोषण करने वाले परमेश्वर के हित में लिया जाता है। दूसरे महान व्यक्तित्वों को सम्मानित करने के लिये; उनके ईश्वर तुल्य व्यवहार को सम्मानित करने के लिये भी इन शब्दों का प्रयोग होता है। चूँकि हमारा प्रभु घटघट वासी है। सचराचर में व्याप्त है। इसलिये हमारे मातृस्थान भरतखण्ड कहलाते हैं। भरतखण्ड अर्थात परमेश्वर का घर प्रदेश। हम मानते हैं कि भरत ही हमारा जनक है, पिता है। इसलिये हम भारत कहलाते हैं। भरतस्य अपत्यम, भारतम्। हम महान भारत संस्कृति हैं ! हम महान भरत की संतान हैं। हम प्राणिमात्र में आत्मा के रूप में भरत का ही भाव तथा व्यवहार करते हैं। इसलिये हम भारत कहलाते हैं। असुरधर्मा संस्कृतियों में उनके ईश्वर धरती पर नहीं रहते, उसी के अनुरूप उनके जातिसंज्ञक परिचय तथा यथा पहचान है।' वे हमारे भ्रमों का निवारण करते हैं।

यदि हमारी सही पहचान यही है कि हम भारत हैं तो फिर हिन्दु कौन है ? किसी भी धर्म ग्रन्थ में इस शब्द को पहचान के रूप में कभी भी नहीं मान्यता मिली, वेदादिक ग्रन्थों से तुलसी की रामचरितमानस तक ! फिर भारत के संविधान में इस शब्द को पहचान अथवा जातिसंज्ञक के रूप में मान्यता प्रदान करने का क्या औचित्य ?

हिन्दुकोह एक पर्वत का नाम है। कुछ बंजारा जातियां इस पर्वत पर रहती थीं, जो हिन्दु कहलाती थीं। यह पर्वत भारत की सीमा में कभी रहा भी नहीं। इन बंजारा खानाबदोश लोगों का काम था, चोरी करना, गुलाम बनाकर चुराये बच्चों को बेचना, औरतों का व्यापार करना आदि। इसीलिये हिन्दु शब्द के अर्थ फारसी शब्द कोश में हैं –: चोर, काफिर, काला, धोखेबाज आदि। उत्तरप्रदेश सरकार द्वारा संचालित तथा अधिकृत हिन्दी भवन ने डा. राजबली पाण्डेय के ग्रन्थ 'हिन्दु धर्मकोश में इसकी विस्तृत चर्चा की है। ग्रन्थ का नामः– हिन्दु धर्म कोश। लेखकः– डा. राजबली पाण्डेय एम.ए., डी.लिट., विद्यारत्न, भूतपूर्व कुलपति, जबलपुर विश्वविद्यालय, जबलपुर। प्रकाशकः– उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान (हिन्दी समिति प्रभाग), राजर्षि पुरूषोत्तमदास टन्डन हिन्दी भवन, महात्मा गांधी मार्ग, लखनऊ। पृष्ठ संख्या ७०२ व ७०३। वास्तव में यह शब्द हिन्दु भौगोलिक है। मुसलमानो को यह शब्द फारस अथवा ईरान से मिला था। जैसे हिन्दु, हिन्दी, हिन्दुवी, हिन्दा (लैला का पूर्व नाम), हिन्दुवानी, हिन्दुकुश, हिंन्दसा, हिन्दसॉं, हिन्दुवाना, हिन्दबॉं, हिन्दु–ए–चर्ख, हिन्दु–ए–चश्म, हिन्दमन्द, हिन्दसनदानी, ईरान के बलखनगर का पूर्व नाम हिन्दवार था।

पृष्ठ ७०३ः– फारसी भाषा में हिन्दु शब्द का अर्थः– डाकू, सेवक, दास, काफिर आदि ।

सन १६८४ तथा १६८१ में प्रकाशित फारसी भाषा के शब्दकोश में भी हिन्दु की यही व्याख्या है। इन्हें दिल्ली पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली तथा नवलकिशोर प्रिंटिंग प्रेस लखनऊ ने प्रकाशित किया है।

इसके अतिरिक्तश देश की आजादी से भी पहले :–

जवाहर–उल–लुगात– फारसी – लेखकः– मुंशी विशम्भर दयाल – पब्लिशरः– राम नरायन लाल बुकसेलर एण्ड पब्लिशर, इलाहाबाद। द्वितीय संस्करण १६२७।

प्रिन्टर्सः– नेशनल प्रेस, इलाहाबाद। प्राक्कथन लेखक पंडित राजनाथ, रायबहादुर। पृष्ठ संख्या – ४७३ हिन्दुः– चोर, डाकू, गुलाम, काला, काफिर।
हिन्दुज़न :– जादुगरनी, कुलटा, डायन।

लुगात–ए–किशोरी प्रकाशकः– नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ १९८१ संस्करण पृष्ठ ८२१ और ८२२ पर भी यही लिखा है।

इन बनजारा कबायली जातियों को जो हिन्दु कोह पर रहती थीं, फारसी सेनाओं ने आक्रमण करके नेस्तनाबूद किया था। उसी की स्मृति के रूप में हिन्दुकोह (कोह फारसी भाषा में पर्वत का नाम है) हिन्दुकुश कर दिया गया। कुश शब्द का अर्थ है, मारना यथा खुदकुशी – आत्महत्या।

भारत का इस अतीत से कभी कोई सम्बन्ध रहा ही नहीं। मुस्लिम दासता के काल में विदेशी आक्रांता हिन्दुकुश के पार सम्भवतः सभी को इसी नाम से पुकारने के आदि हो गये थे। परन्तु हमारे सर्वज्ञानी विद्वान राष्ट्रीय नेता ??? भारतीय संविधान के पूज्य रचयिता ?

आर्याना, ऐरियाना, असुर जातियों के सम्मानित स्थान आदिकाल से रहे हैं। यह स्थान ईरान, सीरिया तथा उसके पास के विस्तृत क्षेत्र कहलाते थे। इनका भी भरतखण्ड से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं रहा है। भरतखण्ड ही मनु की नाव है तथा विश्वविदित है कि यह उपमहाद्वीप आज भी तैर रहा है तथा हिमालय पर इसकी प्लेटें केवल रखी हुई हैं, जुड़ी नहीं हैं। डी.एन.ए. से भी सिद्ध हो चुका है कि आर्य और भारत जाति दो नितान्त अलग जातियां हैं। इनके डी.एन.ए. कतई मेल नहीं खाते। ईरान ही आर्यों का मूल क्षेत्र है तथा भरतखण्ड ही भारत जाति का मूल क्षेत्र है। ईरान के अति प्राचीन विश्वविद्यालय का नाम आर्यमेहर विश्वविद्यालय (।तलंउमींत न्दपअमतेपजल) ही है। ईरान का सबसे बड़ा राष्ट्रीय सम्मान 'आर्यमेहर' ही है। यह सम्मान केवल वहां के राष्ट्रपति शाह रज़ा पहलवी को प्रदान किया गया था। असुर संस्कृति में यह महानतम सम्मान है।

प्दकपं दक प्दकपंद इंडिया और इंडियन नाम भी विदेशियों द्वारा दी गई गन्दी भद्दी, अपमानजनक गाली भर है। इंगलिश जगत में जो शादी चर्च में नहीं होती, वह नाजायज कहलाती है। ऐसी नाजायज शादी से उत्पन्न बच्चे को इंडियन

कहते हैं, जिसका सीधा अर्थ है नाजायज औलाद (हरामी)। आज भी ब्रिटेन के कानून में वहां के नागरिक को इंडियन कहना कानूनी अपराध है। इसमें ६ महीने तक की सज़ा हो सकती है। आप इसे ब्रिटिश कानून की किताब में देख सकते हैं, किसी भी समीपस्थ विश्वविद्यालय के कानून के विभाग में जाकर।

चूंकि भारत के लोग चर्च में शादी नहीं करते थे, इसलिये विदेशी आक्रांता उन्हें स्वभाववश इंडियन कहते थे। कालान्तर में देश का नाम भी उन्होंने इंडिया कर दिया। ऐसा उन्होंने अन्य गुलाम देशों के साथ भी किया था। जैसे इन्डोनेशिया, वैस्ट इन्डीज़ और ऐसी ही अन्य भी।

यह कहना कि सिन्दस से इन्डस और इन्डस से इंडिया हो गया, हास्यास्पद है। यह कब हुआ था ? कोलम्बस तो आरम्भ से ही इंडिया की खोज में निकला था। जरूर उसे उसके परदादा ने बताया होगा कि सिन्दस से इन्डस और इन्डस से इंडिया हो गया है ? दूसरा प्रश्न है कि क्या बाकी देशों में भी सिन्धु नदियां हैं ? यथा इन्डोनेशिया (इन्डियाना ऐशियाना) वैस्ट इन्डीज़, मिनी इन्डीज़, न्यु इन्डीज़। अमेरिका के रैड इंडियन और उनका प्रदेश इंडियाना इसका स्पष्ट ज्वलंत उदाहरण है। आंख का अन्धा भी सहारे से जान लेता है, चल लेता है। परन्तु जो मन का भी ?

पुरानी आक्सफोर्ड डिक्शनरी में इंडियन को इवतपहपदंस तंबम अर्थात उदगम हीन अथवा ज़िनका उदगम अथवा उत्पति अनुचित, असंवैधानिक हो। प्द.कपंद शब्द की व्युत्पत्ति पर ध्यान देंगे तो अर्थ और कारण स्वतः स्पष्ट हो जायेंगे। जो चर्च में शादी नहीं करते उनकी शादी ही अनुचित है। उनकी उत्पति, उदगम ही भ्रष्ट है। वैसे भी डयान का अर्थ हैः– घोड़े की पीठ पर बैठी शिकार को बीन्धकर मारने वाली मृत्यु की देवी, अथवा कुंवारी मातायें, जिन्हें आप भी सम्भवतः डायन ही कहना चाहेंगे, इसका दूसरा अर्थ है – कुवांरी मातायें, जो विधिवत विवाह के बिना सन्तान उत्पन्न करती हैं। प्द का अर्थ स्पष्ट हो जाना चाहिये – ऐसी डायनों से उत्पन्न अथवा प्रकट हुए। ब्रिटिश कानून की किताब भी यही कहती है। क्या हमारे राष्ट्रीय महान नेता और प्रथम प्रधानमन्त्री, जो इंग्लैंड में ही पढ़े बढ़े थे, इन से अनभिज्ञ थे ? अथवा उनकी दृष्टी में इनका कोई महत्व नहीं था ? सम्पूर्ण क्रिश्चियन विश्व इस शब्द के अर्थ से परिचित ही नही, उसके खिलाफ कानूनी पहलू भी जानता है। एक छोटा बच्चा भी।

गान्धी फिल्म में फिर एक विदेशी (रिचर्ड ऐटिनबरो) बनकर गान्धी हमें इस शब्द का परिचय दे गया, अथवा यूँ कहें, हमें हमारी औकात दिखा गया। याद करें साउथहाल में गान्धी के शब्द जो उन्होंने इंडियन पर कहे हैं। जिसके उपरान्त ही भारतीय मूल के लोग आंदोलित होकर परिचय पत्र जलाने लगे थे ! क्या गान्धी ने जवाहर को बताया नहीं था ? विदेशी कलाकार, बनकर गान्धी, सारे देश को इस शब्द का अर्थ बता गया। उसमें उसने कहा ' वे हमें इंडियन कहते हैं, क्योंकि हम चर्च में शादी नहीं करते। इसलिये उन्हें हमारे हाथों की छाप

मुझे आज़ादी के उपरान्त की एक घटना याद आ रही है। आंगन में बैठा अखबार के पन्ने कुरेद रहा था। पूरा अखबार चाट जाने के बाद भी आपके पास कोई काम न हो तो आप भी सम्भवतः यही करेंगे। हमारे पड़ोसी ईसाई डाक्टर आकर पास बैठ गये। कुछ ज्यादा ही भावुक दिख रहे थे। बिना पूछे ही सुनाने लगे, 'सर ! आज़ादी तो हम ईसाईयों को ही मिली है। आप सोच नहीं सकते हमें कैसा लग रहा है। पहले अंग्रेज हमें इंडियन यानि बास्टर्ड कहते थे। हमारे साथ गुलामों जैसा व्यवहार करते थे। हमें ब्लैक बास्टर्ड क्रिश्चियन कह कर बुलाते थे। हम उनके चर्च में घुस नहीं सकते थे। उनकी कब्रगाह में दफन नहीं हो सकते थे। एक.ही धर्म और जाति के होकर भी हम उनके उत्सवों में सम्मिलित नहीं हो सकते थे। अब सबकुछ हमारा है। कब्रगाह, चर्च हमारे हैं। अब हमें कोई बास्टर्ड नहीं कह सकता।' काश ! उस समय हम जान सकते कि हमारे महान नेता उनके जाने के बाद भी हमें बाकायदा परमानेन्ट बास्टर्ड बनाने के मूड में हैं। अजादी के समय इंडियन पहचान को लेकर सभी के मन में कुंठा थी। इस अपमानजनक पहचान से सभी परिचित भी थे तथा इसे मिटाने के लिये व्यग्र भी थे। महात्मा गान्धी, बालगंगाधर तिलक, सरतेजबहादुर सप्रू तथा मोतीलाल नेहरू तक इस विषय मे अपना स्पष्ट विरोध करते थे। बापु का कहना था कि पहचान को उठाने का समय नहीं है। इससे देश की आज़ादी की दिशा तथा आन्दोलन पर विपरीत असर पड़ सकता है। आज़ादी के उपरान्त इस कलंक को सहज ही मिटाया जा सकेगा।

इस युग में आकर हमने अपनी सही पहचान एक जाति, एक संस्कृति, एक धर्म के रूप में पायी है। हमारे देश का नाम भरतखण्ड है। नागरिक के रूप में हमारी पहचान भारत है। जिसका अर्थ है–ईश्वर के पुत्र। क्या हम सब ही ईश्वर के पुत्र हैं ? भला ऐसा भी हो सकता है ? यहां तो किसी एक व्यक्ति को ही ईश्वर का बेटा कहलाने का सम्मान प्राप्त होता है। बाकी सब तो भेड़ बकरियों की भांति पीछे चलने वाले अनुयायी होते हैं। उन्हें केवल धर्म के नाम पर बांटा व लड़ाया जाता

है। उनका इस्तेमाल धर्म के नाम पर साम्प्रदायिकता और राजनीति के लिये, घृणा और हिंसा फैलाने के लिये ही होता है। यह ईश्वर के बेटे कैसे हो सकते हैं ? हमने जानना चाहा तो उत्तर मिला – आत्मा ही जीवमात्र का जनक है। आत्मा ही सत्य रूप में हम सबका पिता है। हम सब एक पिता की सन्तान हैं। आत्मा ही हम सबका भरण पोषण करने वाला भरतार है, भरत है। हम सब समान भाव से उसके पुत्र हैं, इसीलिये भारत कहलाते हैं। हम सब आत्मा अर्थात ईश्वर के पुत्र हैं। जब एक ही परमेश्वर है सम्पूर्ण सचराचर को बनाने वाला, जब एक ही सबका पिता है, दूसरा कोई पिता है ही नहीं, तब सभी तो एक पिता की सन्तान हुए। फिर जायज और नाजायज का भी झगड़ा और प्रपन्च कैसा ? एक ही पिता की नाना सन्तानें नाना प्रकार की अच्छी व बुरी हो सकती हैं। कहलायेंगी पिता की सन्तान ही।

जब हम सब भारत हैं, एक पिता की सन्तान हैं। हममें कोई भेदभाव है ही नहीं, तो कौन जात पांत फैलाकर हमें लड़ा सकता है। कौन साम्प्रदायिकता का विष घोलकर हमें दुखी और कमजोर बनाकर राजनीति की बिसात का मोहरा बना सकता है ? कौन वोटबैंक की सड़ी राजनीति से हम सबके जीवन को नरक बना सकता है ? मात्र यही हमारी आदिकालीन पहचान भी है, फिर हमारे महान राष्ट्रीय नेताओं ने विदेशी गालियों की धरोहर से ही हमें नवाजना क्यों चाहा ? यदि आप कहें कि वे अनभिज्ञ थे तो जानना चाहूंगा ऐसे अनभिज्ञ लोगों को सत्ता सौंपना कहां तक उचित था ?

जब नागरिक के मन में रहेगा कि वह भारत है, ईश्वर का पुत्र है। उसमें अपने होने का गर्व होगा तथा साथ ही अपनी कमजोरियों पर लज्जा का भाव, उसके गहरे मानस में उसे उद्वेलित करता रहेगा। वह अपने पिता जैसा अच्छा और सदगुणी क्यों नहीं है। ऐसी सुन्दर पहचान को खोकर विदेश की जूठन के रूप में मिली गालियों से नयी पहचान खोजना, क्या उचित है ?

साम्प्रदायिकता के नाम पर हमें सारा विश्व दो धड़ों में बंटा मिलता है। सुर और असुर ! दो विपरीत विचारधारायें सारे विश्व में व्याप्त हैं। अन्यथा कहीं किसी प्रकार के मतभेद नहीं हैं। शैव, शाक्त, वैष्णव आदि का भेद नहीं है। आपसी वैमनस्य अथवा घृणा का प्रायः अभाव ही है। नाना ऋषियों के आश्रम तथा विद्यापीठ हैं। वे मानव को सम्प्रदायों में बांटने का विचार भी नहीं करते हैं। शैव, शाक्त और वैष्णव एक आराध्य के प्रति पूर्ण रूपेण अर्पित होकर भी सभी देवों का समान आदर

एवं पूजा उसी भांति करते हैं जैसे एक पतिव्रता नारी अपने पति के प्रति पूर्णरूपेण अर्पित रहती हुई, सास, श्वसुर तथा सभी कुटुम्बी जनों के प्रति अर्पित रहती है। अलगाववाद को यहां बहुत ही निकृष्ट तथा अमंगलकारी मानते हैं। सौ से भी अधिक लोग एक परिवार के रूप में रहते हैं। सबकुछ अविश्वसनीय सा लगता है।

सभी गुरूकुल में शिक्षित होने के उपरान्त ही गृहस्थ धर्म को धारण करते हैं। जीवन को वह एक पाठशाला अथवा जीवनयात्रा का पड़ाव भर ही मानते हैं। इसलिये न तो वे भ्रमित होते हैं तथा न ही जीवन के प्रति मोहासक्त ! भारत के रूप में वे अपनी पहचान कभी नहीं खोते हैं। वे मानते हैं कि यह जीवन जगत एक नाटयशाला का रंगमंच भर है। अपना अपना किरदार भर जी लेने के उपरान्त सबकुछ यहीं छोड़कर जाना होता है, तो मोह कैसा ? आसक्ति कैसी ? खोने का डर कैसा ? पाने की भूख क्योंकर ? क्यों न प्रत्येक क्षण आत्मा की मस्ती में, पूर्ण कर्त्तव्यनिष्ठ होकर, पात्रता की निष्ठा के साथ जिया जाये। जब मद्रास पुनः चिन्नई तथा बम्बई पुनः मुम्बई हो सकता है तो हम फिर से महान भारत क्यों नहीं हो सकते ? कब तक इस देश के नागरिक अपमानजनक गालियों को पहचान के रूप में लादे रहेंगे ?

आजादी के समय के क्षणों की कल्पना में, उन मनीषी समाज, साहित्य एवं देश की सांस्कृतिक धरोहर से जुड़े तपस्वियों के रूप मेरी कल्पनाओं में उभर आते हैं, जिन्होने देश के नाम के साथ ही कुछ और भी चाहा था देश के तत्कालीन कर्णधारों से।

१. देश का नाम भारतवर्ष हो।
२. मूल निवासियों की जाति संज्ञक पहचान भारत हो।
३. हिन्दी भाषा का नाम भारती रखा जाये।
४. सभी भारतीय भाषाओं के शब्दकोश भारती भाषा में ग्रहण किये जायें।
५. भारती भाषा को राष्ट्रभाषा घोषित किया जाये।

क्या अब ऐसा नही हो सकता ? क्या इस देश के महान नागरिक सदा अपमानजनक भद्दी गालियों को ही पहचान के रूप में ओढ़े रहने के लिये असहाय रहेंगे। क्या हम हमारे पूर्वजों द्वारा प्रदान की

गई आदि पहचान को हम सब स्वाभिमान पूर्वक धारण कर पावेंगे ?

हमें यह भी नहीं भूलना चाहिये अपनी मूल पहचान से कट गई संस्कृति, जाति, धर्म अथवा कुल संपूर्ण जाति विनाश का कारण बनता है। असुर, यक्ष, किन्नर, राक्षस, दानव आदि महाबल शाली

जातियों एवं संस्कृतियों के समूल विनाश इसके स्पष्ट उदाहरण हैं। आधुनिक इतिहासकार उनके अस्तित्व को एक सिरे से नकारने लगे हैं। वे उन्हें कपोलकल्पित मानने लगे हैं। क्या कल भारत एक महान जाति, एक आदि प्राचीन महान संस्कृति का यही हश्र नहीं होने वाला ? यदि हम समय रहते नहीं जागे तो क्या हम ही इस महान संस्कृति के महाविनाश के कारण नहीं बनेंगे ?

सुर एवं असुर संस्कृति !

सम्पूर्ण विश्व दो संस्कृतियों में बंटा हुआ है। दोनो स्वयं को एक ही पिता की सन्तान मानते हैं। मातायें अलग अलग हैं, दिति और अदिति। दोनों सगी बहने हैं। इसकी कथा विस्तार से हमें महाभारत महाकाव्य तथा लगभग सभी पुराणों में एक जैसी ही मिलती है। पिता महामुनि कश्यप हैं। पुराणों तथा उनसे पूर्व के साहित्य के सूक्ष्म अवलोकन से स्पष्ट होता है कि दोनो ही एक ही धर्म के अनुयायी भी थे। जहां सुर विचारधारा के लोग शिव, ब्रह्मा महादेवियों के उपासक थे वहीं असुर भी उनकी उपासना में सुर से पीछे नहीं थे। कालान्तर में आधुनिक भाष्यकारों ने उनकी अलग अलग ढंग से व्याख्या कर दी। वस्तुतः भेद जीवन के दृष्टीकोण को लेकर ही था।

हिन्दु धर्मकोश में डा. राजबली पाण्डेय ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है :– असु = प्राण, र = वाला (प्राणवान् अथवा शक्तिवान्) बाद में यह धीरे धीरे यह भौतिक शक्ति का प्रतीक हो गया। ऋग्वेद में 'असुर' वरूण तथा दूसरे देवों के विशेषकर रूप में व्यवहृत हुआ है, जिससे उनके रहस्यमय गुणों का पता चलता है। (पृष्ठ संख्या ६८) उपरोक्त मान्यता अन्य समकालीन विद्वानों की भी मिली जुली सी देखने को मिलती है।

जबकि अमर: कोश में असु का अर्थ, प्राण, मरने के उपरान्त भाव में लिया गया है। यथा 'असु का अर्थ देह हीन प्राण तथा 'र' का अर्थ भटकने वाला। मरने के उपरान्त देह विहीन, दीन हीन अवस्था को प्राप्त होकर भटकते प्राणों को असुर कहा गया है। यह कोई बलवान अवस्था का प्रतीक नहीं है।

दूसरे पूर्वकालीन भाष्यकारों ग्रन्थकारों पुराणों तथा गुरूकुल शिक्षा के आचार्यों एवं ऋषियों के मतानुसार :– असुर और सुर एक ही पिता की सन्तान हैं। अदिति (ती) देवों की माता हैं। अन्यथा भी इस शब्द के अमरकोश सम्मत अर्थ इसप्रकार हैं :–

पृथ्वी। वाणी, गौ, पुनर्वसु नक्षत्र, देवमाता, आदि। इसके पुत्र आदित्य द्वादश तथा देवता कहलाये। इसी प्रकार इसकी बहन दिति के पुत्र असुर कहाये। इसका अर्थ भी अमरकोश में देखते चलें :– किसी वस्तु के दो अथवा अधिक टुकड़े करने की क्रिया को दिति कहते हैं। खंडन। दिति से उसके पुत्र दित्य (दैत्य) भी कहलाये।

असुर, शब्द के रूप में एक ही सर्वमान्य अर्थ रखता है 'अ+सुर' सुर अर्थात देवत्व के विपरीत अथवा देवत्व से हीन। सुरों के द्रोही होने के कारण उन्होंने स्वयं को असुर घोषित किया हो, ऐसा होना नितान्त सम्भव है। इसे लगभग सभी टीकाकारों ने सम्भावना के रूप में स्वीकार किया है। इनके अन्य स्वीकृत नाम हैं :– दैत्य, दैतेय, दनुज, इन्द्रारि (इन्द्र के शत्रु), दानव (दनु के वंशज), शुक्रशिष्य, दितिसुत, तथा अन्य कई नामों से यथा कर्म के अनुसार नाम धरे गये।

असुर तथा सुर दो स्पष्ट विचारधारायें हमें अतीत के साहित्य, कथाओं, उल्लेखों में मिलती हैं। जिन्हे संयोगमात्र कहना भारी भूल हो सकती है। असुर स्वयं को सुर अर्थात देवत्व से हीन मानता है। उसकी मान्यता है कि ईश्वर उससे दूर अन्य स्थान पर रहता है। इससे उसे भौतिकता प्रधान निरंकुश जिन्दगी, विषय भोगों तथा विलासिता से ओत प्रोत जीने का स्वच्छन्द अधिकार स्वतः ही मिल जाता है। जिस प्रकार महाराज भरत से देश का नाम भारत जोड़ने की कल्पना आधुनिक काल में हुई है, कुछ ऐसे ही प्रयोग असुर शब्द के साथ साक्ष्य एवं प्रमाणों से आंख मूंद कर किये गये लगते हैं। महाराज भरत से देश का नाम जोड़ने वाले भूल गये कि उनसे पूर्व एक ऋषी भरत भी हुए हैं। इन सबसे अति पूर्व महाराज दशरथ के एक पुत्र का नाम भी श्री भरत है। आदिकाल से भारत सम्बोधन के रूप में वार्तालाप में प्रयुक्त होता रहा है। महाराज सगर को भी काव्य में हे भारत कहकर सम्बोधित किया गया है। प्राचीन वैदिक काव्य में भी सम्बोधन के रूप में एक दूसरे को 'भारत' कहकर सम्बोधित करने का व्यापक चलन रहा है।

इसी प्रकार असुर शब्द एक सम्पूर्ण विचारधारा, एक पूर्ण परिपक्व एवं समृद्ध मान्यता तथा जीवन शैली का प्रतिनिधित्व करता है। असुर भौतिकवादी यथार्थवादी समाज है। वर्तमान को भरपूर जी लेना ही उसकी जीवन शैली है। कल की बात वह नहीं मानता। वीर भोग्या वसुन्धरा ही उसकी जीवन शैली है। वह किसी को व्यर्थ में लादकर अपने सुखों को कम करने में विश्वास नहीं करता। भोग संस्कृति ही उसकी सम्पूर्ण जीवन शैली है। इसमें वह किसी का हस्तक्षेप भी नहीं सहन करता, भले ही वह उसकी मां हो अथवा पत्नी। नारी उसके लिये मात्र भोग्या है।

मिट्टी का खेत भर है। उसे स्वच्छन्द अधिकार है, जो चाहे बीजे, जैसे चाहे जोते। वह स्वयं को एक ऐसे परमेश्वर का पुत्र मानने को तो तत्पर है जिसने सबकुछ उसके भोगने और मौज मस्ती के लिये बनाया है। परन्तु यह सम्मान वह अपनी पत्नी, बहन, अथवा बेटी में भी बांटने को कतई तैयार नहीं। यहां तक कि अपने द्वारा गुलाम बनाये गये पुरूष को भी वह अपना भागीदार मानने को कतई तैयार नहीं है। वह पूर्ण रूपेण एकाधिकार प्राप्त स्वेच्छाचारी है। उसकी धर्म की व्याख्या भी उसकी व्यक्तिगत सुविधा तथा स्वेच्छाचारिता परक है। वह जितनी चाहे औरतें अपने सुख व्यभिचार के लिये रख सकता है। औरत ऐसा कदापि नहीं कर सकती। जब चाहे किसी स्त्री को बेच सकता है, गिरवी रख सकता है, पर पुरूष के साथ हमबिस्तर होने के लिये उसे मजबूर कर सकता है। स्त्री, उसकी कोई इच्छा रोक नहीं सकती। स्त्री को धर्म पूर्वक उसके आदेश का पालन करना होगा, अन्यथा वह धर्मद्रोही करार दी जावेगी। ऐसी अवस्था में उसे जीवन से भी हाथ धोना पड़ सकता है।

असुर जीवन के प्रत्येक स्तर पर अपनी अलग पहचान, सुस्पष्ट विचारधारा, अपनी विशिष्ट शैली में ही रखता है। युद्ध में भी उसकी अलग ही शैली है। माया युद्ध, छल युद्ध, सोते में अथवा असावधानी में मारने, धोखे से विष देकर मारने को भी धर्मयुद्ध की संज्ञा प्रदान करता है। समय ने सिद्ध कर दिखाया है कि उसकी सोच आधारहीन नहीं थी। आज विश्व के अधिसंख्य देश युद्ध में असुर को ही आर्दश मानकर चलते हैं। असुर के वाद आज भी चर्चा में हैं ﬄअमतल जीपदह पे पित पद सवअम दक ूतण

असुर की पूर्ण आस्था द्वैत धर्म में है। ईश्वर और जीव को वह दो अलग क्षितिज मानता है, जो कभी एक हो ही नहीं सकते। उनके मध्य सदा आसमानों की दूरी रहेगी। अपने इसी द्वैत धर्म और अखण्ड विश्वास के कारण सम्भव है उसने स्वयं को द्वैत से दैत्य नाम धराया हो। दूसरा कारण माता दिति भी हो सकती हैं। वैसे दिति का शाब्दिक अर्थ भी है :' किसी एक वस्तु अथवा एकत्व के भाव को खण्ड खण्ड कर अनेकता में बांट देना। यहां पर भी असुर विचारधारा हमें समय के साथ अधिक प्रभावी हो रही सिद्ध होती है। पूर्वकाल में परिवार एकत्व में बन्धे रहते थे। परन्तु अब परिवारों के विखण्डन दिति का ही सर्मथन कर रहे हैं। असुर जीवमात्र को भोगने की वस्तु मानता है। उसके स्वर्ग में भी सबकुछ भोगने के लिये है। स्त्री के साथ ही बाल व्यभिचार की कल्पना उसके स्वर्ग में है। वह स्वर्ग में यह सब पाने की ईच्छा रखता है। फिर धरती पर यह सब तो उसका धर्म सिद्ध अधिकार है।

असुर विचारधारा के प्रवर्तक आचार्य शुक्र हैं। भृगुनन्दन आचार्य शुक्र द्वैत धर्म के अधिष्ठाता होने के कारण द्वैत से द्वैताचार्य तथा कालान्तर में दैत्याचार्य के नाम से प्रसिद्धि हुए। शुक्राचार्य के द्वैत धर्म की महिमा को अद्वैत धर्म के आचार्यों ने पूरा सम्मान ही नहीं दिया, वरन उसे शिरोधार्य करते हुये उसे पूर्ण सम्मान सहित प्रतिष्ठित भी किया था। उनका आदर और सम्मान आज भी अक्षुण्य है। अद्वैत धर्म के प्रणेता देवगुरू बृहस्पति के समान ही दैत्यगुरू का सम्मान सदा हुआ है। कुछ अतिवादी कल्पनाओं में ही विचरण करने वाले कथाकारों, भाष्यकारों तथा अब फिल्मकारों ने उन्हें खलनायक बनाकर रख दिया है।

जहां देवगुरू बृहस्पति को सम्मानित करने हेतु एक ग्रह का नाम बृहस्पति ग्रह रखा गया वहीं भृगुनन्दन आचार्य शुक्र को सम्मानित करने हेतु एक ग्रह का नाम आचार्य शुक्र के नामान्तर शुक्र ग्रह रखा गया। अति अद्वैत वाद तथा अति द्वैतवाद के सन्तुलन के रूप में गुरूकुल शिक्षा का समन्यवाद प्रकट हुआ। गुरूकुल शिक्षा ने गुरू एवं आचार्य की महत्ता को गुरूकुल में समान रूप से प्रतिष्ठा तथा सन्तुलन प्रदान किया। गुरूकुल शिक्षा में आचार्य एवं गुरू में स्पष्ट भेद है। आचार्य, छात्र के जीवन को श्रेष्ठ आचरण प्रदान करने वाला, उसके पारिवारिक, सामाजिक एवं व्यवहारिक जीवन को श्रेष्ठ, स्पष्ट एवं सम्मानित करने वाले ज्ञान से वरद करने वाला है। गुरू उसको आत्मा की अमर राह देने वाला, उसके जीवन को अध्यात्म की सार्थकता प्रदान कर सुखद एवं मोक्ष परक बनाने वाला है। दोनो ही छात्र के लिये अति पूज्य एवं वन्दनीय है। इसीलिये आज भी, किसी भी शुभ कार्य के आरम्भ में, गुरू एवं शुक्र ग्रह दोनों को उदय अवस्था में रहना अति आवश्यक है। इसके बिना पूजा का मुहुर्त ही नहीं बनता। जिस प्रकार आत्मा के बिना शरीर व्यर्थ है। जिस प्रकार शरीर के बिना आत्मा की अभिव्यक्ति सहज नहीं हो सकती। दोनो का सही सामन्जस्य में होना ही सहज जीवन का स्वरूप है, उसी प्रकार भौतिक एवं अध्यात्मिक जीवन की सफलता में आचार्य एवं गुरू का होना परमावश्यक है। एक शरीर को संवारता है तो दूसरा आत्मा से मजबूत अटूट सम्बन्ध बनाने की कला में निपुण करता है। दोनो ही समान रूप से पूज्य, वन्दनीय एवं महान हैं।

देवता और असुर दो विपरीत ध्रुव हैं। एक नितान्त भौतिकवाद का निम्न घृणित स्तर है तो दूसरा अध्यात्म का अन्तिम छोर। दोनो ही आस्थावान हैं। दोनो की धारणायें अलग अलग हैं। सुर स्वयं को परम् सत्ता में व्याप्त कर एक अद्वैत सत्ता बनना चाहता है। असुर परम् सत्ता से वरद हो एक अलग सत्ता बनना चाहता है।

वह सत्ता से अलग सत्ता बनने के लिये द्वैत सत्ता की कल्पना को साकार करना चाहता है। परम् सत्ता से अलग तो कभी विपरीत सत्ता बनने के दम्भ को जीना चाहता है। बहुत बार सत्ता पाकर वह परम् सत्ता को चुनौती देने का मद भी बटोर लेता है।

श्रीराम की कथा में असुरराज रावण अपनी विधवा हो गई पुत्रवधु को सलाह देता है कि वह अकेली श्रीराम के शिविर में जाकर अपने पति मेघनाद का सिर मांग लाये। सेना साथ में ले जाने से अनिष्ट युद्ध हो सकता है। पुत्रवधु सुलोचना अपने श्वसुर रावण से पूछती है कि जिसकी पत्नी को वह धोखे से अपहरण करके लंका ले आया है, क्या वह उसकी युवा पुत्रवधु के साथ वैसा ही व्यवहार नहीं करेगा?

'वह श्री राम हैं। सुरनायक हैं। वह नारी का अपमान कदापि नहीं करेगा। सुर धर्म में नारी भोग्या नहीं, पूज्या मानी गई है। वह तुममें नवदुर्गाओं का ही भान करेगा। सुलोचना तुम निर्भय होकर जाओ। श्रीराम, राम ही रहेंगे और असुरराज रावण, रावण ही रहेगा। हम दोनो अपने अपने धर्म से विचलित कदापि नहीं होंगे। मैं असुर ही रहूंगा, वे सुर धर्म से कभी नहीं टलेंगे।' रावण कहता है।

इससे पूर्व रावण जानकी का अपहरण करके जब लंका जाता है तो उसकी पत्नी उसे ऐसा निन्दित कर्म न करने के लिये कहती है। तब रावण उत्तर देता है कि उसने असुर धर्म के विपरीत कुछ नहीं किया है। बच्चे औरतों को लूटना, अपहरण करना, चुरा लाना असुरधर्म का अंग हैं। वह पहले भी तो ऐसा करता रहा है।

असुर समाज पुरूष प्रधान है। नारी का धर्म पर कोई प्रभाव नहीं है। असुर देवियों की पूजा तो करता है, परन्तु नारी को भोग्या से आगे कोई स्थान नहीं देना चाहता। उसकी पूजाओं में भी तान्त्रिक साधना का ही प्रमुख स्थान है। वह तान्त्रिक साधनाओं के द्वारा शक्ति अर्जित करके एक अलग बड़ी सत्ता बन कर सब पर अपने दम्भ का प्रदर्शन करना तथा सबको अपने आधीन कर गुलाम बनाकर अपने दम्भ की तुष्टि करना ही उसके लिये सुखद है।

असुर विचारधारा आज भी विश्व में अपना प्रभाव सुर विचारधारा से कहीं अधिक रखती है। भारत भी इस विचारधारा से प्रभावित रहा है। असुरराज जरासन्ध, दन्तवक्त्र, भौमासुर आदि महाबलशाली साम्राज्यों का प्रभुत्व लम्बे काल तक रहा है। सप्तद्वीपपति असुरराज रावण का नाम त्रेतायुग में विश्वविख्यात था तो द्वापर

युग के महाराज कंस भी पीछे नहीं थे। इन्होंने इतिहास में अपनी अलग ही जगह बनायी है। इन्ही के समकालीन असुरराज कालयवन मध्य ऐशिया के अतिबलशाली सम्राट रहे हैं। पिरामिड बनाने वाली संस्कृति के अन्तिम सम्राट माने गये हैं। उनके बाद पिरामिड बनाने की संस्कृति प्रायः लुप्त हो गई।

पिरामिड बनाकर सम्राट को दास दासियों एवं धन धान्य ऐश्वर्य सहित, मरणोपरान्त पिरामिड में सुला दिया जाता था। दैत्य गुरू शुक्राचार्य जब भी आवेंगे, सम्राट को संजीवनी मन्त्र से जीवित कर देंगे। उस समय सम्राट के साथ सभी दास दासियां भी जीवित होकर पुनः सम्राट की सेवा में लग जावेंगे। आचार्य शुक्र ही ऐसा कर सकने में सक्षम हैं।

असुर की विचारधारा सुस्पष्ट तथा यथार्थपरक है। असुर एक जन्म की ही बात करता है। वर्तमान को सुखपूर्वक जी लेना ही उसकी सबसे बड़ी उपलब्धि है। जन्म जन्मान्तरों के चक्कर में फंसना उसे कतई पसन्द नहीं है। वह मरने के उपरान्त की किसी भी कल्पना को अस्वीकार करता है। उसकी इच्छा वर्तमान को अनन्त काल तक जी लेने की है। इसीलिये तपस्या द्वारा वह अमरता पाने की कल्पना करता है। ईश्वर में मिलना उसकी फितरत में नहीं है। ईश्वर बनने में वह हिचकेगा भी नहीं। पूजा से, लूट से, युद्ध से, धोखे अथवा छल से वह सबकुछ पाना और भोगना ही चाहता है। उसकी सारी पूजायें पाने के हित में होने से तन्त्र प्रधान हैं। हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु (प्रहलाद के पिता) इसके स्पष्ट उदाहरण हैं।

वैदिक गुरूकुल शिक्षा में उसकी पूर्ण अनास्था ही नहीं, कट्टर विरोध भी है। वह ऐसे स्थानों को विध्वंस करने में चूकता भी नहीं है। हवन यज्ञादिकों के विध्वंस में उसे विशेष आनन्द की प्राप्ति होती है। उसके अपने गुरूकुल हैं। उसकी अपनी शिक्षा पद्धति है। उसमें बालक को तान्त्रिक शिक्षा के साथ देहबल तथा अस्त्र शस्त्र शिक्षा के साथ छल और माया कपट युद्ध में पारंगत करता है। बालक को कैसे भी हो दूसरों का भी हक छीनकर अपनी सत्ता और समृद्धि को प्राप्त होकर सुखपूर्वक जीना है। उसकी अतृप्तियों की कोई सीमा नहीं है। वह स्वयं को देवताओं से श्रेष्ठ मानता है। उसकी देवताओं के प्रति दुर्भावना के लिये वह देवताओं को ही दोषी मानता है। उसकी मान्यता में देवता अन्यायी एवं कपटी हैं। देवताओं ने कपटपूर्वक उसके अधिकारों को छीन लिया है।

असुर के मन में असुर के प्रति प्रेम, समर्पण, त्याग की भावना तो हो सकती है, परन्तु असुर बिरादरी के बाहर उससे मानवीय मूल्यों के प्रति किसी भी प्रकार की मानवीय संवेदना की कल्पना निरी मूर्खता के अतिरिक्त कुछ नहीं हो सकता। असुर से इतर मानवीयता को असुर अपनी घृणा तो दे सकता है, परन्तु दया का प्रश्न ही नहीं उठता। वह उन्हें गुलाम बनाकर उनके साथ अमानवीय निन्दनीय आचरण करके असुरराज से वरदान पाने की कल्पना करता है।

असुर अपनी एक अलग बिरादरी में आस्था रखता है। दैत्य, दानव, राक्षस यही असुर बिरादरी है। इनके अतिरिक्त किसी को धरती पर स्वाभिमानपूर्वक जीने का कोई अधिकार असुर को मान्य नहीं है। वह उन्हें अपना दास अथवा गुलाम बनाकर जीने देने की विशेष कृपा तो प्रदान कर सकता है, परन्तु अपने बराबर मानना उसे कदापि सहन नहीं है। गुलामप्रथा उसकी देन है।

अतीत के युगों में असुर एक विचारधारा अथवा जीवनशैली बनकर रह जाता है। जो उसके विचारों को मान ले वह भी असुर है। सुर अथवा असुर संस्कृतियां एक लम्बे अन्तराल के उपरान्त, मानव समाज में प्रवेश करती हैं। मानव समाज दो ध्रुवों में बंटने लगता है। यह विचार के बंटवारे ही कालान्तर में जातियों, साम्प्रदायों एवं संस्कृतियों में बंटते चले जाते हैं। महाभारत महापुराण तथा लगभग सभी पुराणों में इसके साक्ष्य भरे पड़े हैं।

असुर संस्कृति का मानना है कि उसने सबसे पहले धरा पर अपना कदम रखा। देवता बाद में आये। इसलिये धरती पर उसका ही जायज़ हक है। धरती उसकी सम्पत्ति है। वह धरती को अपनी भोग्या और गुलाम मानता है। उसे धरती को माता मानने में आपत्ति है। स्त्री, पशु, पक्षी आदि सभी जीवों के साथ धरती भी उसकी भोग्या दासी है। भला वह उसे माता का सम्मान कैसे दे सकता है ?

देवी देवताओं से भी उसका सम्बन्ध तान्त्रिक सत्ता एवं शक्ति बटोरने भर तक ही सीमित है। अन्यथा वह उन्हें कतई पसन्द नहीं करता। समय आने पर उन्हें अपना गुलाम बनाने की भी कल्पना करता है। उसकी अपनी मान्यतायें हैं, अपनी सोच और समझ है। जो उसे अन्तिम रूप से आत्मसात करे, वही उसका सच्चा अनुयायी होने से असुर होगा तथा उसकी कृपा का पात्र हो जायेगा। महाराज उग्रसेन

सुरनायक हैं। उनका बेटा कंस, असुरराज जरासंध के प्रभाव में असुरराज कंस बन जाता है। इसी प्रकार त्रेता युग में भी विश्रवा मुनि का वंशज रावण अपने नाना के प्रभाव में आकर असुरराज रावण बन बैठता है। एक ही जाति, एक ही परिवार के सदस्य विचार एवं मान्यताओं को बदलकर सुर अथवा असुर बन एक दूसरे के खून के प्यासे हो उठते हैं। इतिहास भोले और निरीह प्राणियों के रक्त से कलंकित होने लगता है। इतिहासकार और उपन्यासकार उन्हें शौर्य गाथा का रूप देने लगते हैं। सिसकती तड़पती मानवता की पीड़ा उन्हें छू भी नहीं पाती है।

सम्राट अशोक ने जब कलिंग पर विजय पायी तो वह अपनी जीत को अनुभूत करने युद्धस्थल पर गया। उसने एक आदमख़ोर जंगली को लाशों के बीच टहलते पाया। अशोक ने पूछा कि वह वहां पर क्या कर रहा है ? यदि उसे खाने के लिये लाश चाहिये तो ले सकता है।

'नहीं महाराज़ मैं इस समय भूखा नहीं हूँ। हम जंगली पेट की भूख के लिये ही शिकार मारते हैं। मैं तो उस महाभूखे के दर्शन के लिये खड़ा हूँ जिसने इतने शिकार किये हैं। उसकी भूख और उसके पेट के दर्शन करना चाहता हूँ।' जंगली ने सम्राट अशोक को नतमस्तक होकर उत्तर दिया।

सम्राट अशोक जीतकर भी युद्ध हार गया था। विरदावली गाते उसका यशगान करते चारण और भांड़ो के यशगान उसके कानो में पिघला सीसा घोलने लगे थे। उसे लगा जंगली आदमखोर कहीं अधिक सभ्य है। वे आत्मग्लानि से भर उठे। असुर धर्म में आत्मग्लानि जैसे शब्दों का नितान्त अभाव है।

सुर और असुर संस्कृतियां एक ही उदगम से प्रकट होकर समय के साथ एक दूसरे से दूर हटती चली गईं। दूरियों ने घृणा, वैमनस्य, विरोध, प्रतिशोध का भयंकर रूप धारण कर लिया, जो वर्तमान में भी यथावत है। आज धरती पर न तो मूल रूप में असुर संस्कृति है, ना ही सुर संस्कृति का मौलिक स्वरूप ही बाकी है। दोनो के मिले जुले अजूबे मिश्रण ही बाकी हैं, और कुछ बाकी है तो उनके वैमनस्य, घृणा; विरोध और प्रतिशोध !

सुर ने अमर सत्ता से अद्वैत कर, उसकी ही सत्ता बन अमर जीवन पाना चाहा था। असुर ने अमर सत्ता से वरद होकर स्वयं में एक अलग सत्ता बनना चाहा था। दोनो ने अलग रास्ते खोजे थे। दोनो अपनी अपनी राह पर धर्म एवं निष्ठा

पूर्वक चले थे। अब न दिशा है, न लक्ष्य का भान है। अतीत की पगडन्डियों पर भटकना भर बाकी है। दासता के लम्बे अन्तरालों में लुप्त हो गई गुरूकुल शिक्षा ने सुर विचारधारा के आधार ही ढहा कर रख दिये। अच्छी नौकरी, मोटी तनखा और तगड़ी घूस के लिये शिक्षा मन्त्री, शिक्षाविद और सरकार अपने गाल बजाते अघाते नहीं है। यह नया यज्ञोपवीत है। हमारी राष्ट्रीय सोच का परचम !

गुरूकुल शिक्षा के स्वरूप को जाने बिना ज्योतिर्वेद को समझ पाना संभव नहीं है। समय एवं काल के भेद से शिक्षा के स्वरूप भी बदलते रहे हैं। सुर एवं असुर गुरूकुल अपने अपने ढंग से शिक्षा प्रदान करते रहे हैं। सर्वप्रथम हम सुर विचारधारा के गुरूकुल में प्रवेश करेंगे। हम गुरूकुल के छात्र की मानसिकता को पूर्ण रूपेण जीकर अनुभव प्राप्त करेंगे। सर्वप्रथम महाभारत काल के उपरान्त के काल में प्रवेश करते, हम कलियुग के आरम्भ काल से शुरू होकर, द्वापरकाल में पुनः अनुभव ग्रहण करते त्रेतायुग की मानसिकता का भान करते, आकाशगंगाओं में ज्योतिर्वेद को खोजने चल देंगे। हमारी यात्रा में हमें सत्य को सप्रमाण साक्ष्यों सहित खोजने के लिये अपनी मानसिकता को यथा काल, यथा परिस्थिति ढालनां होगा।

कलियुग के आरम्भ के काल में हम प्रवेश कर रहे हैं। ऋग्वेद के प्रथम ऋषि मधुच्छन्दा के आश्रम की ओर हम अग्रसर हैं। (यह स्थान वर्तमान काल में अल्मोड़ा से लगभग ४० किलोमीटर दूर उत्तरायणी गंगा के तट पर जागेश्वर के नाम से जाना जाता है। इसी स्थान से ऊपर कभी ऋषिकुल स्थापित था) हमारे नायक की आयु ११ वर्ष के लगभग है।

गुरूकुलकी ओर !

इस युग में बालक ११ वर्ष की आयु में ही गुरूकुल में प्रवेश पाता है। इससे पूर्व वह अपने स्वजनों के मध्य उड़ती चिड़िया की भांति स्वच्छन्द रहता है। उसकी शिक्षा दीक्षा गुरूकुल में यज्ञोपवीत के उपरान्त ही होती है। यज्ञोपवीत गुरूकुल में, गुरूकुल के पीठाधीश्वर, ऋषि के द्वारा ही सम्पादित होता है। आचार्यो को भी इस अधिकार से वंचित रखा गया है।

जहां ऋषि को यज्ञोपवीत प्रदान करने का एकछत्र अधिकार प्रदान किया गया है, वहीं उसे बहुत सी वर्जनाओं में भी जकड़ दिया गया है। ऋषि ही गुरूकुल की आदि गंगा है। वही वेद, कर्मकाण्ड, ज्योतिष, ज्योतिर्वेद, न्याय, शास्त्र, धर्म की सर्वोच्च सत्ता में रहते हुए भी, स्वयं उनका संचालन अथवा व्यवहार नहीं कर सकेगा। उसके द्वारा दीक्षित छात्र ही हवन, यज्ञ, कर्मकाण्ड, विवाह आदि ब्राम्हण आदि कर्मकाण्ड करने के अधिकारी होंगे। ऋषि सामाजिक अथवा राजनैतिक दायित्वों को वहन नहीं करेगा। उसे समाज एवं राजनीति से दूर रहना होगा। ऐसा क्यों ?

शिक्षा जिस सर्वोच्च शिखर से उतर कर पीढ़ियों को सींचकर पवित्र करेगी उस शिखर को सदा पुनीत, निष्कलंक, अनासक्त तथा अभेद रहना चाहिये। उसे किसी भी आसक्त धर्म से दूर रखा जाना चाहिये। इसलिये गुरूकुल ऋषि के आधीन, भौतिकताओं से परे वनस्थली में ही होने चाहिये। उस पर राजा अथवा किसी भी प्रकार का प्रभाव नहीं आने देना चाहिये। राजा, राजनेता, समाज के तथाकथित ठेकेदारों की परछाई भी गुरूकुल पर नहीं पड़नी चाहिये। इसे उदाहरण सहित स्पष्ट करेंगे।

कल्पना करें आप अदालत (न्यायालय) में बैठे हुए हैं। एक न्यायाधीश, जज कुर्सी पर बैठा पक्ष और विपक्ष की दलीलें सुन रहा है। वादी और प्रतिवादी के वकील

मुकदमें की पैरवी कर रहे हैं। वकील जज से भी कहीं अधिक पढ़े एवं अनुभवी हो सकते हैं। अब आप बतायें निर्णय सुनाने का अधिकार किसे मिले और क्यों मिले ? जज को ही आप निर्णय का अधिकार देना चाहेंगे। वकील भले अधिक काबिल क्यों न हो उन्हें फैसला सुनाने का अधिकार कदापि नहीं दे सकते। कारण? वकील अपने अपने मुवक्किल के प्रतिबद्ध एवं आसक्त हैं। उनके फैसले कभी भी सही नहीं हो सकते। न्यायाधीश किसी भी पक्ष में आसक्त नहीं है। उसका निर्णय ही सही हो सकता है।

अब आप ही बतायें कि आपके बालक को शिक्षा देने का अधिकार किसे मिलना चाहिये ? राजनीति की फड़ पर बैठे मामा शकुनि को ? नेता अथवा राजनीतिज्ञ मन्त्री को? सम्भव है आप नेता के पक्षधर हो जायें। आसक्तधर्म को ही सबकुछ मान लें। परन्तु आप इतना तो मानेंगे ही कि शिक्षा की जरा सी भूल धीरे धीरे जाति विनाश का कारण बन जाती है। शिक्षा के सूत्रों में ही सम्पूर्ण जाति का भविष्य छिपा होता है। धर्म, संस्कृति, मानवीयता के सूक्ष्म सूत्र शिक्षा में ही निहित रहते हैं। इसलिये शिक्षा के उद्गम सदा पवित्र रहने ही चाहिये। उन्हें पवित्रतम अवस्था तथा स्थान पर सुरक्षित रहना चाहिये। जरा सी चूक अथवा असावधानी एक सम्पूर्ण देश, जाति एवं संस्कृति के महाविनाश की कथा लिख देगी। आज भरतखण्ड की महान भारत जाति, धर्म और संस्कृति कहां पर आ खड़ी हुई है ? सुर, असुर, यक्ष, गन्धर्व किन्नर आदि अति बलशाली जातियों और संस्कृतियों का क्या हाल हुआ? कल हमारी भी वही अवस्था होगी, यदि हम नहीं जागे।

इसी प्रबल अवधारण के कारण गुरूकुल के अधिष्ठाता ऋषि को सभी प्रकार की प्रतिबद्धताओं से दूर रखा जाता था। शिक्षा की धारा सदा पवित्र रहे, निष्पक्ष रहे, अनासक्त रहे तथा धर्म एवं मानवीयता परक रहे।

शिक्षा के उद्देश्य भी स्पष्ट हैं। बालक को उसके प्रकृति एवं पुरूष (परमेश्वर) प्रदत्त उद्देश्यों से परिचित कराना, लक्ष्य के प्रति जागरूक करना, जीवन के सूक्ष्म रहस्यों से अवगत कराना, समाज के प्रति शिक्षित एवं जागरूक भक्त बनाना, सार्थक भौतिक जीवन की कला में निपुण करना, मानवीय मूल्यों एवं सम्बन्धों के प्रति संवेदनशील बनाना, सृष्टी के ज्ञान से पारंगत होकर जीवन के परम लक्ष्य को धारण करने की सामर्थ्य प्राप्त करना तथा देश, जाति, धर्म एवं संस्कृति का वरदान बनकर उसके उज्जवल अमर भविष्य का सबल प्रहरी बनना।

केवल क्षुद्र भौतिक कारणों से शिक्षित होने की कल्पना न तो गुरूकुल करता है तथा न ही बालक के अभिभावक माता पिता आदि। कुत्ता भी बिना पढ़े पेट भर लेता है। मनुष्येत्तर सभी भूत प्राणी बिना गुरूकुल पढ़े ही बच्चे पाल लेते हैं। क्या मनुष्य का बेटा पिल्ले से भी कमजोर और घटिया है जिसे जीवन के अतिमूल्यवान १२ से १५ वर्ष गुरूकुल में महज इसलिये बर्बाद करने पड़ेंगे, जिससे वह सुखपूर्वक अपना और अपने परिवार का भरण पोषण कर सके ? जीवन भर केवल भौतिकता बटोरता रहे, फिर एक निर्धनतम मौत मर जाये। क्या जीवन के अमृत अमूल्य क्षणों का मात्र इतना भर ही सदुपयोग है ?

बालक अपने अभिभावकों के साथ गुरूकुल की ओर बढ़ रहे हैं। हर ओर प्रकृति की अनुपम छटा है। सुन्दर वृक्ष एवं लताओं से लदी, जंगली पुष्पों एवं फलों से सुन्दर दृश्य बनाती घाटियां, पक्षियों का कलरव एवं मनोहारी नृत्य, सबकुछ अदभुत है। ऐसा सब कहीं होता है। गुरूकुल सम्पूर्ण भरतखण्ड में सर्वत्र स्थापित हैं। शिक्षा का मात्र स्वरूप। बालकों के मन में भोली उत्सुकता, जिज्ञासा तथा अनजाने भय का समावेश है।

बचपन से ही वह अपने माता पिता से गुरूकुल की कहानियां सुनते रहे हैं। बहुत सी भोली कल्पनायें, कथाओं के साथ उनके मन आंगन में नाना लीला करती रही हैं। आज साक्षात्कार की घड़ी है। आज वे भी अपने पूर्वजो की भांति गुरूकुल में प्रवेश पायेंगे। वे मन ही मन गर्व कर रहे हैं। ऐसे ही उनके पिता भी बचपन में गुरूकुल में शिक्षित होने गये थे, आज यह सौभाग्य उन्हें मिल रहा है। पिता तो आज भी गुरूकुल भूल नहीं पाये हैं। कितनी कथायें ! कितने मनोरम क्षण ! कितनी घटनायें ! आज भी पिता कुछ नहीं भूले हैं ! भाव से ओत प्रोत होकर वे बच्चों को अपने बचपन की कथायें सुनाते रहे हैं। गुरूकुल सदा जीया है उनमें । आज बालक भी उस कल्पना कथा स्थली का प्रथम साक्षात्कार करेंगे। एक विचित्र आतुरता है उनके मन में। मन है कि पंछी की तरह उड़ कर पहुंच जाना चाहता है।

पहाड़ी बलखाती पगडन्डियों को पार करते वे गुरूकुल के समीप हो रहे हैं। जैसे जैसे गुरूकुल समीप आता जा रहा है, समूह बढ़ते जा रहे हैं। अलग दिशाओं से उनके जैसे ही अभिभावक गुरूकुल में अपने बालकों के साथ जा रहे हैं। मुलाकात एवं परिचय के लिये थोड़ा रूक लेते हैं। पुराने परिचय फिर ताजा हो उठते हैं। बच्चों को रूकना भाता नहीं है। उनका मन तो गुरूकुल में बैठा है।

उत्तरायणी गंगा के पावन तट दृष्टिगोचर होने लगे हैं। दारूक वन की छटा देखते ही बनती है। धीरे धीरे वे सब जागेश्वर तीर्थ के समीप हो रहे हैं। इसी के ऊपर ऋषियों की तपस्थली एवं गुरूकुल हैं। *ऋग्वेद के प्रथम ऋषि मधुच्छन्दा का पावन आश्रम* एवं गुरूकुल यहां पर है।

ऋषि मधुच्छन्दा !!! एक युगान्तर कथा ! एक ऐसी कथा जिसके सूत्रधार ब्रह्मर्षि विश्वामित्र हैं ! तो दूसरे सूत्रधार सत्यवादी महाराज हरिश्चन्द्र हैं। कथा के समापनकर्ता स्वयं भगवान श्रीकृष्ण एवं वेदव्यास हैं !

कथा कुछ इस प्रकार है। महाराज हरिश्चन्द्र निसन्तान थे। सन्तान सुख की प्राप्ति के लिये उन्होने बहुत से यज्ञ अनुष्ठान आदि करवाये परन्तु सबकुछ व्यर्थ हो गया। उनकी पुत्रप्राप्ति की मनोकामना अधूरी ही रही। सन्तान पाने की उत्कट अभिलाषा लिये वे ब्रह्मर्षि विश्वामित्र की शरण में गये। विश्वामित्र ने उन्हें समझाया, "राजन ! हठ न करें। आपके भाग्य में सन्तान सुख विधाता ने लिखा ही नहीं है। यह समय और जन्म आपका अन्तिम है। आप मोक्ष के अधिकारी हैं। सन्तान के मोह का परित्याग करें।"

मोहासक्त महाराज हरिश्चन्द्र नहीं माने। विश्वामित्र के चरणों पर गिरकर रोने लगे। विश्वमित्र ने सभी प्रकार से उन्हें समझाने का प्रयास किया। महाराज हरिश्चन्द्र कुछ भी सुनने को तैयार नहीं थे। उनकी मोहासक्ति ने उन्हें बहरा और अन्धा बना दिया था। वे ब्रह्मर्षि विश्वामित्र की शक्तियों की दुहाई देने लगे। महामुनि को उनका हठ स्वीकार करना पड़ा। महामुनि ने उन्हें सचेत किया, " राजन आपका हठ सर्वथा अनुचित होते हुए भी मैं आप पर दयाद्र हो उठा हूँ। यद्यपि यह मेरे लिये भी उचित नहीं है। मैं अपने तपोबल से आपको सन्तान प्राप्ति का वर देता हूँ। परन्तु ध्यान रहे कि पुत्रेष्ठी यज्ञ के उपरान्त आप उस बालक को दक्षिणा सहित मुझे दान कर देंगे। आप मोह कदापि नहीं करेंगे।"

राजा हरिश्चन्द्र ने महामुनि को वचन दिया कि वे महामुनि की आज्ञानुसार बालक को मुनि को अर्पित कर देंगे। उचित समय पर ब्रह्मर्षि विश्वामित्र ने राजा एवं रानी से वचन तथा संकल्प लेकर यज्ञ सम्पन्न करवाया तथा पुनः दोनो को सचेत कर वन को चले गये।

समयानुसार महारानी को पुत्र सन्तान की प्राप्ति हुई। ऋषि विश्वामित्र सादर

बुलाये गये। उन्होने बालक का नामकरण आदि संस्कार सम्पन्न कराये। बालक का नाम रोहिताश्व रखते हुए पुनः राजा को सचेत किया, " राजन ! यह बालक साधारण नहीं है। केवल आपकी पुत्र कामना की पूर्ति हेतु प्रकट हुआ है। इसे शीघ्र ही आत्मज्वालाओं का वरण करते अपनी अमर (अश्व) स्थिति का आरोहण करते यथा लोक को शीघ्र लौटना होगा। इसीलिये मैंने इसका यथा नाम रोहिताश्व रखा है। आप सदा सचेत रहें। किसी प्रकार की मोहासक्ति से दूर रहें।"

महाराज एवं रानी की मोहासक्ति बालक में निरन्तर बढ़ने लगी। जब भी महामुनि बालक को लेने आवें, राजा दम्पत्ति अनुनय विनय कर थोड़ा समय अधिक मांग लें। मुनि विश्वामित्र महाराज हरिश्चन्द्र के व्यवहार से दुखी एवं सशंकित हो उठे। उन्होने महाराज एवं महारानी को बहुत भांति समझाने का प्रयास किया। मोहासक्त दम्पत्ति पुत्र मोह से बाहर आने में सर्वथा असमर्थ रहे। उन्होंने रोहिताश्व के बदले किसी अन्य बालक को प्रदान करने की अनुमति चाही। महामुनि विश्वामित्र उनके आचरण से स्तब्ध रह गये। उन्हें स्वयं पर क्रोध होने लगा। वे मन ही मन स्वयं को धिक्कारने लगे कि क्यों उन्होंने राजा पर दया करके प्रकृति के नियमों को हाथ में लेने का अपराध किया। कुछ भी कहे बिना ऋषि वन को लौट गये।

ऋषि विश्वामित्र के मौन का राजा दम्पत्ति ने गलत अर्थ लगाया। उन्हें लगा कि महामुनि ने उनके प्रस्ताव का अनुमोदन किया है। उन्होने तपस्वी ऋषिकुलों में जाकर रोहिताश्व के बदले एक ऋषिकुमार को लेकर महामुनि विश्वामित्र को दान करने के लिये ऋषिकुमार की कामना की। बालक मधुच्छन्दा ने माता पिता से अनुमति प्राप्त कर स्वयं को यज्ञारोहण के लिये अर्पित कर दिया।

बालक को लेकर राजा दम्पत्ति महामुनि विश्वामित्र के आश्रम में पधारे एवं बालक मधुच्छन्दा को रोहिताश्व के स्थान पर ग्रहण करने की प्रार्थना की। ऋषि ने कहा," राजन ! आप नहीं जानते हैं आप कितने भारी प्रायश्चित का आवाहन कर बैठे हैं। मुझे भी आपके प्रायश्चित में लिपटना होगा।"

ऋषि की चेतावनी का भान न लेते हुए राजा दम्पत्ति लौट गये। महामुनि ने नन्हे बालक मधुच्छन्दा को योग दृष्टी से देखा तो वे चौंक पड़े। उन्होनें बालक से कहा कि वे अभी यज्ञ का वरण न करें। उन्हें अमृत ज्ञान को सचराचर को प्रदान करने हेतु ही जन्म धारण करना पड़ा है। उन्हें अभी लम्बे समय तक पृथ्वी पर रूकना होगा।

विश्वामित्र ने अपने सौ पुत्रों का आवाहन किया। वे अपने पिता के सम्मुख प्रकट हो गये। महामुनि ने उनसे कहा कि वे सब मधुच्छन्दा को अपना अग्रज धारण करें। पचास पुत्रों ने पिता की आज्ञा न मानने की विवशता प्रकट की। उनका कहना था कि वे बालक को अग्रज (एक प्रकार से गुरू) नहीं स्वीकार कर सकते। भला बालक उनका अग्रज कैसे हो सकता है? वे सभी प्रकार के ज्ञान विज्ञान, तप आदि में पूर्ण पारंगत हैं। इसपर महामुनि ने उन्हें शापित कर दिया। शेष पचास पुत्रों ने मधुच्छन्दा को अपना अग्रज माना। वे ही जेता माधुच्छन्दस के नाम से विख्यात हुए।

यह कथा बालकों ने अपने अभिभावकों से बहुत बार सुनी है। वे आश्रम तक पंहुवने की तीव्र उत्कंठा लिये हैं। ऐसे महान आश्रम में वे अमृत ज्ञान पायेंगे। कितना बड़ा सौभाग्य है उनका !

उत्तरायणी गंगा के किनारे चलते वे जागेश्वर नामक स्थान पर आते हैं। जागेश्वर एक विचित्र प्रकार का तीर्थ स्थान है। जहां ईश्वर जागता है। संसार सो जाता है, जागेश्वर ! स्थान दो भागों में बंटा है। उत्तरायण एवं दक्षिणायन ! दक्षिणायन भाग में श्मशान हैं यहां पर चितायें जलती हैं। उत्तरायण भाग में ऋषियों के समाधि स्थल हैं। प्रत्येक समाधि के ऊपर शिवलिंग स्थापित है। यह आदि प्रचीन परम्परा है। उत्तरायण देवगोल है तथा दक्षिणायण यमगोल है।

उत्तरायणी गंगा के तट पर पवित्र स्नान करने के उपरान्त, सबलोग समाधियों की विधिवत पूजा अर्चना करते हैं। थोड़े विश्राम के उपरान्त पुनः गुरूकुल की ओर प्रस्थान करते हैं। पहाड़ी बलखाती पगडन्डियों का सिलसिला फिर शुरू हो जाता है।

प्रथम दर्शन

ऋषिकुल की विहंगम छटा धीरे धीरे प्रकट होने लगती है। दूर दूर तक फैले आश्रम, ऋषिकुल तथा उनमें कार्यरत ब्रह्मचारी छात्र तथा उनका सहयोग निर्देशन करते आचार्य ! एक भव्य विस्मयकारी समृद्ध विश्वविद्यालय का सम्पूर्ण दर्शन ! कहीं कर्मकाण्ड की शिक्षा तो कहीं युद्धकौशल में दीक्षित होते छात्र ! हरित सुरम्य घाटियों एवं पहाड़ियों की पृष्ठभूमि में अति मनोरम लगता है। बालक विस्मित से देखते रह जाते हैं। सबकुछ उनकी कल्पना से बहुत परे है। यह तो पूरा नगर है। निर्भय होकर विचरण करते वन्य प्राणी उसकी भव्यता एवं आलौकिक दिव्यता के जीवन्त प्रमाण हैं।

कहीं वेद के सस्वर पाठ तो दूर मन्दिर में गूंजती स्तुति एवं घन्टों का मधुर नाद अतिशय कर्णप्रिय है। बालक सबकुछ देखते अपने अभिभावकों के साथ अतिथिशाला की ओर बढ़ रहे हैं। दूर दूर तक फैले कृर्षि के क्षेत्र, खेत और खलिहान स्थान की समृद्धि पर मुहर लगा रहे हैं। सबकुछ सुव्यवस्थित है। ऋषिकुल किसी पर आश्रित नहीं है। उन्हें किसी राज्याश्रय की आवश्यकता नहीं है। शिक्षा पर कोई भी मुहर नहीं लग सकती ! कुलाधिपति आदि मधुच्छन्दा के अतिशय पवित्र निर्मल पवित्र एवं निष्पक्ष अमृत ज्ञान को कभी भी, किसी अवस्था में भी, जेता माधुच्छन्दस मैला अथवा विकृत कदापि नहीं होने देंगे ! शिक्षा का अमृत कभी भी अपवित्र नहीं होगा। ऋषत्व उसकी रक्षा में सबकुछ आहूत करने में सदा तत्पर रहेगा। गुरूकुल की स्वाधीनता सर्वोपरि है।

अध्यात्म, ज्योतिर्वेद, वेदादिक ज्ञान विज्ञान, धर्म, नीति, न्याय, समाज, कृषि, कला, वाणिज्य, निर्माण, इतिहास, भूगर्भ विज्ञान, भूगोल, वानिकी एवं भूवन्य विज्ञान, अस्त्र शस्त्र, धनुर्वेद, युद्ध कौशल एवं नाना ज्ञान विज्ञान के विभिन्न विषय, मन्दिर भवन आदि निर्माण कला, आयुर्वेद, पाक कला विज्ञान, उद्योग, मूर्तिकला विज्ञान, ज्योतिष, मुहूर्त विज्ञान, कर्मकाण्ड, ब्रह्मविज्ञान, नाना शास्त्र एवं पुराणादिक विज्ञान, षडदर्शन, ऐसे ही नाना विषयों पर शिक्षा एवं अनुसन्धान की व्यापक एवं सुस्पष्ट

तथा सुव्यवस्थित व्यवस्था गुरूकुल में सहज सार्थक रूप से व्याप्त है। गुरूकुल इन सबके लिये भी किसी पर आश्रित नहीं है। स्वैच्छिक निमित्त दान ही स्वीकार्य है। राजा का अन्न अथवा दान वर्जित है। यहां तक कि राज्य व्यवस्था गुरूकुल क्षेत्र में प्रवेश नहीं कर सकती। राजा को भी छत्र तथा शस्त्र का परित्याग कर मात्र एक भक्त के रूप में प्रवेश की अनुमति है।

सभी व्यवस्थायें सुरूचिपूर्ण तथा सुव्यवस्थित हैं। उनके विभाग तथा शिक्षास्थल यथा दूरी पर स्थापित होने के कारण गुरूकुल स्वयं में एक भव्य नगर सा प्रतीत होता है। बालक विस्मित से सबकुछ देखते हुए अपने अभिभावकों के साथ अतिथिशाला की ओर बढ़ रहे हैं। वृक्ष लतायें भी सुव्यवस्थित एवं मनोहारी हैं। घाटियां पहाड़ियां भी व्यवस्थित एवं मानव द्वारा सुसज्जित है। सभी स्वच्छ एवं निर्मल हैं। कूड़ा अथवा गन्दगी का सर्वथा अभाव है। लगता है जैसे मानव और प्रकृति एक हो गये हैं। दोनो एक दूसरे के पूरक एवं परम एकत्व में अनिवार्य रूप से जुड़ गये हैं।

अतिथिशाला में सब प्रवेश करते हैं। यहां सभी प्रकार की समुचित व्यवस्थायें प्राप्त हैं। सारे नियम कायदे व्यवस्थित रूप से अंकित हैं। सभी के व्यवहार अतिथियों के प्रति मधुर एवं शालीन हैं। बालक अत्याधिक प्रभावित होते हैं। अतिथिशाला में रात्रि विश्राम के उपरान्त प्रातः ब्रह्ममुहुर्त में वे गुरूदेव के सम्मुख प्रस्तुत होंगे।

गुरूदेव का वरण

प्रातःकाल में सभी नित्यक्रिया स्नान ध्यान से निवृत होकर ब्रह्मचारियों के संरक्षण में अपने अभिभावकों सहित गुरूदेव के सम्मुख प्रस्तुत होते हैं। सौम्य दिव्य झांकी का दर्शन उन्हें मुग्ध कर देता है। गुरूदेव की स्मृति विलक्षण है। वे उनके अभिभावकों को नाम सहित पहचानते हैं। मधुर वाणी में उनके कुशलक्षेम पूछते हैं। दम्भ तो उन्हें कहीं छू भी नहीं पाया है। उत्ताल उन्मुक्त पहाड़ी नदी सी उनकी सरल सरस वाणी जैसे मन के भीतर मृदंग सी बजाने लगती है। एक एक बालक का परिचय प्राप्त करते उनकी चिर मुस्कान और करूणामयी आंखें बालकों को सहज आत्मीय समर्पण का भाव अमिट कर देती है। बालकों के मन में व्याप्त अनजाने अनदेखे भय सहज ही लुप्त हो जाते हैं।

आचार्यो ब्रह्मचारियों के निर्देशन में बालक गुरूदेव का पूजन अर्चन वन्दन भावपूर्वक करते हैं। गुरूदेव सहज ही सब बालकों को गुरूकुल में ग्रहण किये जाने की अनुमति प्रदान करते हैं। बालको अथवा अभिभावकों का इम्तहान अथवा टैस्ट यहां नहीं लिया जाता। जिन्हें ज्ञान दिया ही नहीं उनका टैस्ट कैसा ?

बालक धन्य हैं। उन्हें गुरूकुल में प्रवेश मिल गया है। वे आश्वस्त हैं। गुरूदेव तो कुछ पूछते ही नहीं है। उन्होंने बहुत से श्लोक, वन्दना तथा सामान्यज्ञान से सम्बन्धित ज्ञान बारम्बार रटा था, जिससे वे उत्तीर्ण हों तथा गुरूकुल में ग्रहण किये जायें। उन्हें किसी ने ऐसा करने के लिये कहा भी नहीं था। वह तो उन्होंने स्वेच्छा से किया था।

इस युग में बहुत कुछ आधुनिक युग से भिन्न है। प्रत्येक व्यक्ति स्वेच्छा से दान करता है। कर व्यवस्था का सर्वथा अभाव है। कर व्यवस्था केवल असुर संस्कृतियों में ही मान्य है। सुर संस्कृतियों में दान की ही व्यवस्था है। प्रत्येक व्यक्ति धर्मपूर्वक नियमबद्ध होकर स्वेच्छा से राजा का दान राजकोश में देता है। ऐसा वह धार्मिक

दायित्वों की पूर्ति के हित में करता है। ऐसा करके उसे अस्सीम शान्ति प्राप्त होती है। उसने अपना धार्मिक दायित्व पूरा किया। इसीप्रकार वह मन्दिर, धर्मशाला, गौशाला, यज्ञशाला तथा गुरूकुल में धर्मपूर्वक दान करके अपने दायित्वों की पूर्ति करके अस्सीम शान्ति का सुख पाता है। यह सुन्दर संस्कार उसे गुरूकुल शिक्षा में बाल्यकाल में प्राप्त हुए हैं। यह सब गुरूकुल शिक्षा की देन है। खाली घड़ों में ही जल भरा जा सकता है। कोमल बाल्यावस्था में ही बालक को संस्कारित कर सकते हैं आप !

गुरूकुल नगर से दूर वन एवं पर्वतों में इसीलिये बनाये जाते थे। उन्हें विलासिता तथा सांसारिकता से इसी कारण दूर रखा जाता था। शिक्षा को राज्याश्रय से अलग दूर रखने का मूल उद्धेश्य भी यही था। इसी कारण शिक्षा का अधिकार केवल ऋषि को ही प्रदान किया गया था। बचपन के भोले पवित्र खाली घड़े अमृत जल से ही भरे जायें। इसी में देश जाति संस्कृति का भविष्य तथा सुख एवं समृद्धि निहित है। यदि शिक्षा राह से भटक गई तो सबकुछ नष्ट हो जायेगा।

गुरूदेव बालकों को उपदेश देंगे। बालक अपने जीवन में पहली बार गुरूदेव से वचनामृत ग्रहण करेंगे। उनकें अभिभावक, आचार्य, ऋषिगण एवं ब्रह्मचारीवृन्द भी आतुर हैं।

उत्ताल निर्झर !

सर्वत्र मौन समाधिस्थ है। सबकी आंखें गुरूदेव की शान्त गहन छवि पर स्थिर हैं। अमृत उपदेश सुनने के लिये कानों की प्यास अपने चरम पर है। सब टकटकी बान्धे उन्हें देख रहे हैं। संक्षिप्त स्वस्ति वाचन, आशीर्वचन के उपरान्त गूंजती गुरूदेव की अमृतवाणी

''नये शिक्षा सत्र का आज हम सब आरम्भ करने जा रहे हैं। नवप्रसून शिक्षा का अमृत ग्रहण करने हमारे गुरुकुल के आंगन में खिल उठे हैं। हम उनका स्वागत करते हुए उनके उज्जवल भविष्य की कामनाओं के साथ इस सत्र का आरम्भ करते हैं। कभी, इसीप्रकार उनके अभिभावक पूर्वज शिक्षा हेतु पधारे थे।

शिक्षा जीवन को परम लक्ष्य तो प्रदान करती ही है। शिक्षा उसके जीवन की सार्थकता है। शिक्षा उसे मानव होने के साथ ही सृष्टी के, उत्पत्ति के गूढ़ रहस्यों से परिचित कराती है। शिक्षा के द्वारा ही वह स्वयं को सार्थक रूप से जान पाता है। शिक्षा ही उसे सृष्टी का परम ज्ञान प्रदान कर सचराचर का वरदान बनाती है। शिक्षा उसके जीवन का अमृत है। शिक्षा द्वारा ही उसके व्यक्तित्व में निखार आता है। वह जीवन की निरन्तर धाराओं से जुड़ पाता है।

पेट भरना, अपने परिवार को पालना, अच्छे बुरे, मित्र शत्रु की पहचान करना पशु, पक्षी, जीवधारी भी बिना गुरूकुल के सब जानते हैं। अपनी परिस्थितियों में, अपने संसार में जी लेते हैं। शिक्षा हमें सृष्टी का वरदान तथा अतीत की धरोहर का उत्तराधिकारी, उसका रक्षक प्रतिनिधि तथा उसका समृद्ध अधिष्ठाता बनाती है। हमारे नये उत्तराधिकारी गुरूकुल में इसी अमृत ज्ञान को धारण करेंगे।

जीवन इस धरा पर अनुसंधान के रूप में उतारा गया था। क्षीरसागर के वैभव को धरती पर उतारने की कल्पना ने ही नाना योनियों का विकास कर, धरती को

जीवन से धन्य किया था। आप सब उन्हीं के वंशज हैं। गुरूकुल आपको आपके अतीत से सुपरिचित करायेगा।

जीवात्मा क्षीरसागर की धरोहर है। जीवात्मा की उत्पत्ति ब्रह्म से है। शरीर वह घर है जिसमें जीवात्मा वास करता है। इस घर के निर्माण की प्रक्रिया में मैथुनि सृष्टी के सहयोग की कल्पना है। जबकि इस घर का निर्माण भी आत्मा के द्वारा ही होता है। माता एवं पिता इसमें निमित्त मात्र ही सहयोग करते हैं। वे शरीर का छोटा सा अंग भी बनाना नहीं जानते। आत्मा ही सचराचर के घरों का जनक है। आत्मा को ही भरत कहा गया है। आत्मा की संतति होने के कारण हम सब भारत कहलाते हैं। इस पावन धरती का नाम भी आत्मा की अवनि अर्थात भरतखण्ड है। गुरूकुल आपको आपसे परिचित करवायेगा।

सर्वप्रथम गुरूकुल शिक्षा में ग्रहण किये जाने हेतु आपका यज्ञोपवीत संस्कार किया जायेगा। इस संस्कार से पूर्व जीव तथा उसकी देह की संज्ञा शूद्र कही जाती है। अज्ञान भाव ही शूद्र है। अज्ञानी होने से ही वह शूद्र कहलाता है। यज्ञोपवीत संस्कार के उपरान्त ही बालक द्विज होता है। इसीलिये जन्म से (जन्मना जायते शूद्रा) सभी शूद्र कहलाते हैं। गुरूकुल में यज्ञोपवीत संस्कार के उपरान्त ही उनकी द्विज संज्ञा होती है।

यज्ञोपवीत मांयाओं के महासमर में जूझते महारथी (जीव) का गाण्डीव है। दश इन्द्रियों से अर्जित होने के कारण जीव की बुद्धि को भी अर्जुन कहा गया है। उसका शरीर एक रथ के समान है। आत्मा ही सारथि है। जीवन स्वयं में महाभारत है। जिसे लड़ते हैं सम्पूर्ण भारत (भरत अर्थात आत्मा के पुत्र, जीवमात्र) उसे भी महाभारत ही कहेंगे। यज्ञोपवीत ही गाण्डीव है। इसे नियमपूर्वक धारण करने के उपरान्त ही आपका गुरूकुल में प्रवेश सम्भव है।

यज्ञोपवीत संस्कार की पूर्णता के लिये एक ऋषि को जीवन में नित्यस्वरूप धारण करना भी एक अनिवार्यता है। इसके बिना यह संस्कार अपूर्ण होने से महत्वहीन हो जाता है। आप सब सौभाग्यशाली हैं जिन्हें आदि मधुच्छन्दा का पावन गुरूकुल प्राप्त हुआ है। वे पावन ऋषि ही आपके जीवन का महामन्त्र महाप्रेरणा होंगे। जिनका वरण हम सब करते हैं, वे पावन महर्षि मधुच्छन्दा आपके जीवन का नित्य प्रकाश हों।

जीवन, सचराचर एक नाटयशाला की भांति है। कलाकार नाटक में अपनी अपनी पात्रता निभाने आते हैं। अभिनय के उपरान्त अपने यथा स्थान को लौट जाते हैं। उसीप्रकार जीव की अवस्था है। हम सब इस नाटयशाला के पात्र हैं। जिसप्रकार, प्रत्येक कलाकार को वस्त्र, आभूषण, अस्त्र – शस्त्र नाटयशाला ही प्रदान करती है; कलाकर अपने घर से कुछ नहीं लाता है। उसी प्रकार इस नाटयशाला का निर्देशक (आत्मा) ही जीवन रूपी पात्रता के साथ शरीर रूपी वस्त्र एवं सद्ज्ञान तथा सद्गुण रूपी आभूषण हमें प्रदान करता है। जिसप्रकार पात्रता से उपराम होने पर कलाकार को सबकुछ (वस्त्राभूषण तथा वस्त्र अस्त्र आदि) नाटयशाला को लौटाने पड़ते हैं। कलाकार अपने साथ नहीं ले जा सकता। उसी प्रकार जीवन नाटक के समाप्त होते ही जीव को सारी उपलब्धियों के साथ ही शरीर रूपी वस्त्र को भी प्रकृति रूपी नाटयशाला को लौटाना होता है। साथ नहीं ले जा सकते।

इसी सत्य को नाना लीला कथाओं में, नाना पौराणिक ग्रन्थों में, बालक गुरूकुल शिक्षा में ग्रहण करेंगे। प्रतीकों के उदाहरण माध्यमों से जीवन सत्य का ज्ञान प्राप्त करेंगे। जो भी छात्र जीवन की किसी अवस्था में जीवन नाटयशाला के सत्य को भुला देगा, उसके जीवन के नर्क वहीं से प्रारम्भ हो जावेंगे। उसका ज्ञान विज्ञान अभिशप्त होकर उसे पुनः शूद्र अवस्था पर लाकर पटक देगा। आसक्त, मदान्ध, संकीर्ण लोलुपता उसे सदा के लिये पतित योनियों के महाविनाश की कालरात्रि में सदा के लिये भटका देगी। लीला कथाओं, लीलाग्रन्थों तथा ईश्वरीय लीलाओं को नित्यस्वरूप जीवन यात्रा बनाकर सदा के लिये आत्मसंगी बनाकर रखेंगे। इनके महत्व को कभी कम नहीं होने देंगे। यह कथायें सदा हमारी मार्गदर्शक रहें तथा भौतिक भटकावों से कवच बनकर हमारी रक्षा करें। गुरूकुल शिक्षा में इनका यही अमृत महत्व है।

महाराज सगर नें ही सर्वप्रथम जीवन को धरा पर उतारने की कल्पना की थी। उनके अभियान को, उनके उपरान्त, उनके उत्तराधिकारियों ने निरन्तर प्रयासों द्वारा लक्ष्य तक पहुंचाया। कलियुग के प्रभाव में सौरमण्डल आकाशगंगाओं से विपरीत गति लेता पुनः सतयुग में आकाश गंगाओं की ओर उन्मुख होगा। हमें उस समय तक इस ज्ञान विज्ञान को जीवन्त रखना होगा। यही हमारी पहचान है। यही हमारा धन एवं ऐश्वर्य है। यदि हम इसे खो देंगे तो मानव मात्र की पहचान खो जायेगी। मनुष्य आंखों के रहते भी अन्धा हो जायेगा। गुरूकुल शिक्षा की यह पूर्ण जिम्मेदारी है कि वह अतीत की सत्य अमृत धरोहर से भावी सन्ततियों को निरन्तर वरद करती रहे। शिक्षा के अमृत सत्र निरन्तर चलते रहें। धरती का

मानव आकाश गंगाओं से दूर होकर भी आकाश गंगाओं को स्वयं में आत्मसात किये रहे। अपने असली घर को वह कभी न भूले। समय को, ग्रहों की परिक्रमाओं, दूरगामी ग्रहों की अवस्थाओं से कभी अनभिज्ञ न हो। धरती पर रहते हुए जीये अनन्त आकाश गंगाओं में।

सचराचर एक यात्री के समान है। हम सब भी यात्री हैं। जीवन स्वयं एक यात्री है। पृथ्वी निरन्तर सूर्य की परिक्रमा कर रही है। एक परिक्रमा ही पृथ्वी का एक संवत्सर है। समय को परिक्रमाओं द्वारा ही जानना सम्भव है। यात्री की, उसकी गति के द्वारा ही, उसकी स्थिति का भान करना सम्भव है। चन्द्र पृथ्वी की परिक्रमा कर रहा है। उसकी एक परिक्रमा ही उसका एक संवत्सर है। इसी प्रकार सारे दृश्य ग्रह सूर्यदेव की परिक्रमा करते निरन्तर गति को प्राप्त हैं। गति ही जीवन है। सूर्यदेव सपरिवार देवलोक की परिक्रमा कर रहे हैं। देव, ब्रह्मलोक की निरन्तर परिक्रमा करते हैं तथा ब्रह्मलोक भी सनातन परिक्रमा को प्राप्त हैं। जो भी ग्रह परिक्रमा का परित्याग कर देगा उसे महाप्रलय को अंगीकार कर अपने अस्तित्व को खोना पड़ेगा। यही सचराचर का सनातन नियम है।

यत् पिण्डे ! तत् ब्रह्माण्डे !

हम सब भी इसी ब्रह्माण्ड का अंग है। हम सब भी इसी सत्य से जुड़े हुये हैं। गति ही जीवन है। प्रकृति भी इसी नियम के अनुकूल आचरण करती है। ग्रहों एवं नक्षत्रों की भांति ही शरीर के नाना अवयव, रक्त के कण, शिरायें, रज्जू एवं कोश; सभी निरन्तर परिक्रमाओं को प्राप्त हैं। परिक्रमा ही जीवन का सूत्र है। पृथ्वी के साथ हम भी सूर्यदेव की परिक्रमा कर रहे हैं। सूर्यदेव के साथ ही हम सब देवों की परिक्रमा को प्राप्त हैं। यह सब हम घर में रहते हुये, शैया पर सोये हुए, गुरूकुल में अध्ययन करते हुए भी निरन्तर परिक्रमा को प्राप्त हैं। हम नहीं जानते हैं फिर भी ऐसा निरन्तर होता रहता है। यही जीवन परिक्रमा हमारे शरीर में निरन्तर गतिमान रहती है। हम जाने अथवा नहीं, इससे परिक्रमा में कोई अन्तर नहीं आता। जीवन का प्रत्येक क्षण परिक्रमा की वेदी से ही प्रकट होता है। यह जीवन के क्षण अति मूल्यवान, वन्दनीय एवं महा पुन्यदायक हैं। इनका सदा आदर करना चाहिये। इन्हें कभी व्यर्थ नहीं होने देना चाहिये। यह क्षण ही जीवन का असली धन हैं। इनकों किसी भौतिक उपलब्धि से नहीं तौला जा सकता। इन अति मूल्यवान क्षणों का सही मूल्यांकन केवल पुण्य एवं पाप में ही हो सकता है। भौतिकताएं सब साथ छोड़ जाती हैं। चिता पर शरीर भी छूट जाता है। साथ जाती है इन क्षणों की सार्थकता का पुण्य अथवा निरर्थकता के भीषण पाप और गम्भीर प्रायश्चित !

गुरूकुल आपके जीवन में सार्थकता के सुनहरे रंग भरेगा। आपके जीवन को सार्थक दृष्टिकोण प्रदान करेगा। अज्ञान की शूद्रता का परित्याग करवाकर आपके जीवन में नित्य सत्संकल्प स्थापित करेगा।

गुरूकुल में आप सुखपूर्वक ज्ञान का अर्जन करेंगे। गुरूकुल माता की भांति सुखद हो। पिता की भांति आपके भोले जीवन का रक्षक–आश्वासन हो। शिक्षा का अमृत आप सहज आत्मसात करें ऐसे ही आचार्यों के सदप्रयास हों। इसी

आशीर्वचन एवं साधुवाद के साथ आपका आपके नये जीवन में, गुरूकुल आवाहन अभिवादन करता है। स्वस्ति !!

यज्ञोपवीत संस्कार

इस युग में यज्ञोपवीत संस्कार केवल गुरूकुल में ही होते हैं। यह आदि प्राचीन परम्परा है। इस युग के उपरान्त भी लम्बे समय तक इस परम्परा का चलन रहा है। दासता काल में गुरूकुल व्यवस्था के ध्वस्त हो जाने के उपरान्त यह परम्परा नाना प्रकार से निर्वाह भर की जाने लगी। जिसका वर्णन

तत्कालीन ग्रंथों में मिलता है। यज्ञोपवीत संस्कार षोडश संस्कारों में एक है।

१. गर्भाधान २. पुंसवन ३. सीमन्तोन्नयन ४. मेधा–जनक जातकर्म ५. षष्ठीकर्म ६. नामकरण ७.निष्क्रमण ८. अन्नप्राशन ६. चूड़ा करण (मुण्डन) १०. कर्णवेध ११. विद्यारम्भ (अक्षरारम्भ अथवा पाटी पूजन) १२. उपनयन (यज्ञोपवीत), केशान्त, वेदारम्भ समावर्तन, वागदान आदि। इनके उपरान्त लौटने पर विवाह, अग्न्याधान, आदि गृहस्थ धर्म पुत्रेष्ठी यज्ञादिक। इनके उपरान्त वानप्रस्थ धर्म फिर सन्यास। जीवन एक अनुशासित धारा है।

बालक गुरूकुल आने से पूर्व ही उपरोक्त संस्कारों के द्वारा अपने घर ग्राम में अपने पूर्वज तथा ग्राम के आचार्यों के द्वारा सुशिक्षित तथा सुसंस्कृत होकर ही गुरूकुल में प्रवेश पाते हैं। कर्मकाण्ड तथा सद्ग्रन्थों का मौखिक ज्ञान वे प्राप्त कर चुके होते हैं। वे गुरूकुल के विषय में भी अपने पूर्वजों से भरपूर ज्ञान अर्जित कर चुके होते हैं। गुरूकुल उनकी स्नातक तथा स्नातकोत्तर शिक्षा का सर्वमान्य विश्वविद्यालय है तथा उनका द्विज होने का प्रमाण है। गुरूकुल से उत्तीर्ण होकर ही उसे द्विज मान्यता प्राप्त होगी।

चारों ओर चहल पहल है। बालक बहुत प्रसन्न एवं परमानन्दित हैं। आज उनका यज्ञोपवीत संस्कार होना है। उनके माता पिता तथा अभिभावक गण जो उनके साथ आये हैं वे भी उत्सव का आनन्द लेंगे। उन्हें नियमानुसार इस कार्यक्रम में रहने तथा अपने पूर्व के पाठ ताजा करने की पूर्ण अनुमति है। वे ऋग्वेद के प्रथम ऋषि

मधुच्छन्दा का पाठ पुनः दुहरायेंगे। साथ ही बच्चों को ऋचायें, भाव एवं अर्थ सहित कन्ठस्थ कराने में योगदान भी करेंगे। यह कार्यक्रम ११ दिन तक निरन्तर चलेंगे। सत्संग, प्रवचन एवं भावपूर्ण चर्चाओं का परमानन्द निरन्तर रहेगा। बालक भी उसका भरपूर लाभ प्राप्त करेंगे।

यज्ञोपवीत संस्कार की चर्चा हम पूर्व के ग्रन्थ में प्रथम खण्ड में, प्राप्त कर चुके हैं। इसकी विषद् चर्चा का आनन्द हमने ''सनातन दर्शन के नौ अध्याय'' नामक ग्रन्थ में ग्रहण किया है। यहा पर संक्षेप परिचय में ही रहेंगे।

आचार्यगण बालकों को यज्ञोपवीत के लिये संस्कारित कर रहे हैं। सभी संस्कारों को करते समय वे अपने छात्रों को उनके पृष्ठ रहस्य तथा कारण भी विस्तार से समझा रहे हैं। यज्ञोपवीत के तीन सूत्र ही क्यों हैं ? इनपर सात गांठें क्या बिम्बित करती हैं ? सृष्टी के तीन यज्ञ कौन से हैं जो तीन तागों में दर्शाये गये हैं ? मैं कौन हूँ ? मेरे शरीर का रहस्य क्या है ? भस्मी किस प्रकार अन्न में लौटती है? अन्नादिक कैसे बालक का स्वरूप ग्रहण करते हैं ? यज्ञ के रहस्य क्या हैं ? मन्दिर के रहस्य क्या हैं ? जितना बालक जानते हैं, उतनी ही प्यास बढ़ती जाती है। कर्मकाण्ड के अन्तर निहित रहस्य खुलने लगे हैं। वाहय आडम्बर के भीतर बहुत कुछ है, उसे जानकर वे विस्मित हैं। अगले दिन से उन्हें मधुच्छन्दा ऋषि का अमृत ज्ञान मिलेगा। वे धन्य होंगे।

ऋग्वेद के प्रथम ऋषि मधुच्छन्दा

गुरूदेव कुलाधिपति, जेता माधुच्छन्दस पीठ पर विराजमान हैं। उनके सम्मुख यज्ञोपवीतधारी शिष्य बालकों की टोली विराजमान है। साथ में आचार्यगण सुशोभित हैं। उपरान्त अभिभावक समूह अमृतपान हेतु जिज्ञासा, श्रद्धा एवं आस्थापूर्वक सावधान बैठे है।

यज्ञोपवीत जीवन का सूत्र है। किस प्रकार मानव का शरीर भस्मी से पुनः लौटता मानव का स्वरूप ग्रहण करता है, उसकी सम्पूर्ण रहस्य गाथा है। तीन तागे तीन पुनीत यज्ञों की पावन कथा हैं। गायत्री मन्त्र ही यज्ञोपवीत का गुरूमन्त्र है, तथा ऋग्वेद के प्रथम ऋषि मधुच्छन्दा के सूक्त ही उस गूढ़ रहस्य का अद्भुत स्पष्टीकरण हैं। गुरूदेव के सानिध्य में शिष्यगण संक्षेप में उनके रहस्य श्रीमुख से ग्रहण करेंगे। उनके साथ ही ऋचाओं का उच्चारण करेंगे। जीवन पर्यन्त सूत्रों के गहन रहस्यों को जानने में संलग्न रहेंगे तथा यह पावन सूक्त सदा सदा के लिये उनके जीवन की पावन राह बन जायेंगे।

ऋचा शब्द के अर्थ भी स्पष्ट करते चलें। 'ऋग्, ऋक्, ऋत्, का अर्थ है आत्मा अथवा आत्मा का अमर सत्य जो अपरिवर्तनीय है। ऋचा का अर्थ है सृष्टी का बिलोया हुआ सत्य, जो अमर है, अविनाशी है। जिसे सचराचर अथवा प्रकृति को मथकर प्रकट किया गया हो।

ऋचाओं के एक समूह को सूक्त कहते हैं। सूक्त शब्द का अर्थ भी जानते चलें। 'सु' + 'उक्त' जब जुड़े तो शब्द बना 'सूक्त'। 'सु' अर्थात दिव्य, मनोहर तथा 'उक्त' का अर्थ है 'कथन' अथवा कहा गया। मधुच्छन्दा ऋषि के ग्यारह ११ सूक्त हैं। इन्हें पढ़ना, जानना तथा जीवन में नित्य रूप से धारण करना प्रत्येक छात्र के लिये अनिवार्य है। नित्य संध्या, यज्ञोपवीत तथा एक संपूर्ण ऋषि के बिना इस युग में कोई भी द्विज कहलाने का सम्मान नहीं पा सकता। मधुच्छन्दा ही ऋग्वेद के प्रथम

ऋषि हैं इसलिये व्यापक रूप से इन्हें ही अन्य गुरुकुलों में ग्रहण किया जाता रहा है। बालक आज उन्ही पावन ऋषि मधुच्छन्दा के अमृत ज्ञान को ग्रहण कर द्विज बनेंगे।

यज्ञ शब्द के अर्थ भी जानते चलें। इसमें दो अक्षर हैं। 'य' और 'ज्ञ' ! अक्सर आप इससे कुछ ऐसी ही कल्पना करतें हैं, जैसे एक हवनकुण्ड है। उसमें अग्नि प्रज्जवलित है। हवन सामिग्री, घृत एवं समिधाओं के साथ कुछ लोग आचार्य सहित मन्त्रों का उच्चारण करते आहुतियां अग्नि में डाल रहे हैं। बेशक ! ऐसा ही है। परन्तु यह तो यज्ञ का वाहय आडम्बर मात्र है। इसके अलावा भी इसमें बहुत कुछ है। जिसे जाने बिना यज्ञ नितान्त अपूर्ण है।

यज्ञ शब्द का अर्थ है सृष्टी उत्पत्ति को ज्ञात करना। 'य' का अर्थ उत्पत्ति से है तथा 'ज्ञ' का अर्थ ज्ञात होने से लिया गया है। यज्ञ पूर्व वैदिक शब्द है। यह सूत्रात्मक भाषा का शब्द है। वेदों की भाषा भी सूत्रात्मक ही है। सूत्रात्मक (वितउनसंजपवद) भाषा में व्याकरण का अभाव जानबूझकर रखा जाता है। कम शब्दों में बहुत अधिक कहने की परम्परा है। इसके साथ ही बहुत कुछ अलग अलग कहने की परिपाटी भी है। एक ही ऋचा से जीवन के विभिन्न स्तरों पर विभिन्न अवस्थाओं का सटीक चित्रण रहस्यात्मक ढंग से इसके द्वारा सम्पादित होता है।

जब आप वेद को खोलते हैं तो सबसे पहले आपको ऋषि का नाम मिलता है। फिर सूक्त की चर्चा होती है। उसके उपरान्त छन्द और देवता की चर्चा आती है। इनका सम्बन्ध गायन उच्चारण की पद्धति से है। यथा किसको किस प्रकार गाया जाये। सामूहिक सस्वर पाठ करने के लिये यह व्यवस्था है।

जब आप ऋचा पर आते हैं तो आपको जगह जगह पर लेटी अथवा खड़ी रेखाओं के दर्शन ऋचा के ऊपर अथवा नीचे दृष्टीगोचर होते हैं। इनका सम्बन्ध भी सामूहिक सस्वर पाठ से ही है। यथा ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत !

वाहय आडम्बर के उपरान्त इसके पृष्ठ रहस्य से भी परिचित होते चलें। आचार्य आत्मा का प्रतीक है। शरीर ही मूल रूप से यज्ञशाला है। शरीर में निरन्तर हो रही सृष्टी ही यज्ञ है। शरीर चाहे मानव, पशु, पक्षी का हो; पेड़ अथवा वनस्पतियों का

हो अथवा ग्रहों, नक्षत्रों अथवा आकाश गंगाओं का हो 'यज्ञ' ही कहलाता है। जहां भी सृष्टी की कल्पना है, यज्ञ के द्वारा ही सम्भव है। वे सब यज्ञ ही कहलाते हैं। वाहय यज्ञ प्रतीक मात्र है। देह के भीतर हो रहा यज्ञ ही मूल रूप से यज्ञ है। आत्मा ही आचार्य एवं अधिष्ठाता है। प्राणवायु उपाचार्य अर्थात अच्छावाक है। ब्रह्मज्वाला (आत्मा की अग्नि) ही यज्ञ की ज्वाला है। भोज्य पदार्थ सामिग्री एवं समिधाओं की भांति हैं। जीवरूप हम सब यजमान हैं। यही यज्ञ की आदि रहस्यमय कल्पना हैं। गुरूकुल में बालक, यज्ञ के द्वारा स्वयं को भली प्रकार से जानने का प्रयास करते हैं।

गुरूकुल शिक्षा में मन्दिर की कल्पना भी अति विचित्र है। बालक का स्वरूप ही मन्दिर के रूप में पढ़ाते हैं गुरूजन ! शरीर को ही मन्दिर के रूप में दर्शाया गया है। पाल्थी के जैसा मन्दिर का चबूतरा; धड़ (कबन्ध) के जैसा मन्दिर का कमरा; सिर के जैसा मन्दिर का गुम्बद; जटाओं के जूड़े सा मन्दिर का कलश; आत्मा के जैसी मन्दिर की मूर्ति तथा जीव के जैसा पुजारी !

गुरूदेव की स्थिर गम्भीर वाणी बालकों के कानों में अमृत घोलने लगी है। बालक भी पाठ में गुरूदेव की वाणी का अनुसरण करते ऋचाओं का पाठ कर रहे हैं। गुरूदेव सूत्र रूप में अर्थ भी स्पष्ट कर रहे हैं। विस्तार आचार्य गण बाद में बतायेंगे।

(ॐ) अग्निमीले पुरोहितं यज्ञस्यदेवमृतविजम्। होतारमरत्नधातमम्।। १।।

अग्निम्, ईले, पुरोहितम्, यज्ञस्य, देवम्, ऋत्विजम्, होतारम्, रत्न, धातमम्।

वे अधिपति हैं प्रलय की (अग्निम्) अग्नियों के ! महाशिव! अंग अंग में वास करती ज्वाला जिनकी बनकर उष्मा ! ऐसे महाशिव की (ईले) स्तुति वन्दन अर्चन करें तथा परब्रह्म (पुरोहितम्) का वन्दन करें, जो सचराचर को प्रकट धारण तथा कल्याण करने वाले हैं। इनके साथ ही महाविष्णु का वन्दन करें जो देवलोक को जीतने वाले हैं, सत्यजयी हैं, सचराचर का पालन एवं रक्षण करने वाले हैं। वे सब मिलकर करते न्यौछावर (होतारम्) जीवन के अमर अमूल्य रत्न रूपी क्षण तथा धारण कराते जीवन की यात्रा की अमूल्य तप एवं पुण्य रूपी उपलब्धियां

(रत्नधातमम्)।

तन रूपी यज्ञशाला में आत्मा (ॐ अ्+उ्+म) सृजन धारण, पालन एवं रक्षण, संहार एवं मोक्षदाता है। तन यज्ञशाला है। आत्मा स्वरूप परमेश्वर ही यज्ञ का अधिष्ठाता है। ब्रह्मज्वाला ही उष्मा और अग्नि है। भोज्य पदार्थ समिधा एवं सामिग्री हैं। जीव रूप हम सब यजमान हैं। हमारे शरीर परमेश्वर की पवित्र यज्ञशाला हैं।

अग्निः पूर्वेभिरीडयो नूतनैरूत।
स देवाँ एह वक्षति।।२।।

अग्निः, पूर्वेभिः, ऋषिभिः, ईडयो, नूतनै, उत, स, देवाँ, एह, वक्षति।

आत्मा रूपी ब्रह्माग्नियों (अग्निः) में पूर्व काल से (पूर्वेभिः) अर्थात आदिकाल से जिन ऋषियों (ऋषिभिः) ने स्तुति वन्दन अर्पण (ईडयो) एवं अद्वैत किया, इन नित्य अमर आत्मज्वालाओं से, (स) वह पाये देवत्व (देवाँ) में वास और पाया अनन्त से (वक्षति) आलिंगन !

आदि अनन्त काल से जिन साधकों ने शरीर को परमेश्वर की यज्ञशाला मान, किया शरीर का पवित्र सम्मान; बन समिधा बन सामिग्री अर्पित हुए ब्रह्माग्नियों को; पाया आलिंगन अमर आत्मा का; हुए अमर कहाये देवता अनन्त के !

अग्निना रयिमश्नवत् पोषमेव दिवे दिवे।
यशसं वीरवत्तमम्।।३।।

अग्निना, रयिम्, अश्नवत, पोषम्, एव, दिवे, दिवे, यश, सम्, वीरवत्तमम्।

ब्रह्मज्वालाओं (अग्निना) में शीघ्रता से निरन्तर (रयिम) इच्छारहित (अश्नवत) क्षुधारहित अर्थात तृप्त होकर पलते रहे (पोषम्) रहे जो इस भांति (एव) नित्य निरन्तर (दिवे दिवे) ऐसे जीवन ही यशस्वी हैं और वीरोचित (यशसम् वीरवत्तमम्)।

वे नित्य निरन्तर तपे जो ब्रह्मज्वालाओं में अपनी; होकर सदा आत्मतृप्त; वे ही हैं यशस्वी; वे हैं महावीर; जीता जीवन का महासमर !

अपंग बैसाखी का सहारा लेकर चल लेता है। मुर्दा, मृत भी चार बांस की अर्थी के सहारे चल देता है। जो ढूंढ़ते रहे भौतिकताओं और मेरों की वैसाखियां जीवन पर्यन्त उन पंगुओं अथवा मृतप्राय लोगों को कौन कहेगा यशस्वी और वीरवर ???

अग्ने यँ यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि।

स इद्देवेषु गच्छति।।४।।

अग्ने, यम्, यज्ञम्, अध्वरम्, विश्वतः, परिभू, असि, स, इत्, देवेषु, गच्छति।

ब्रह्मज्वाला (अग्ने) में जो (यम्) यज्ञ (यज्ञम्) होते निरन्तर एवं अमर (अध्वरम्) जिससे आच्छादित एवं व्याप्त (परिभू) सम्पूर्ण सचराचर (विश्वतः) जानता जो रहस्य होता (असि) वह (स) अमर; जाता (गच्छति) इस भांति (इत्) देवत्व (देवेषु) में !

आच्छादित जिससे विश्व सारा, पाता सृष्टी उत्पत्ति एवं प्रलय; होता जीवन्त एवं गतिमान; जानता जो रहस्य ऐसे महान यज्ञ के; अर्पित हो करता यज्ञ; पाता अमर देवत्व !

अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः।

देवो देवेभिरागमत्।।५।।

अग्निः, होता, कवि, क्रतुः, सत्यः, चित्र, श्रवस्तमः, देवो, देवेभिः, आगमत्।

ब्रह्माग्नियों (अग्निः) में यज्ञ करने वाला (होता) परमेश्वर, आत्मा घटघट वासी (कवि) के रूप में करता (क्रतुः) यज्ञ जीवन के; प्रकृति (सत्यः) को करता चित्रित (चित्र) और जीवन्त (श्रवस्तमः) सन्तति के योग्य जिसप्रकार; जो पाते रहस्य इस

देव लीला के (देवो) ऐसे देवज्ञानी आते (आगमत्) देवत्व (देवेभिः) में; होते अमर देवता !

सांचों से साचें ढालता आत्मा बनकर परमात्मा का प्रतिनिधि; माता पिता बनते सांचा ढलता एक जीवन नया, एक नवजात शिशु; न माता अंग बनाना जानती ना ही पिता; जानता जो रहस्य, करता यज्ञ का अनुसरण; पाता सृष्टा का सम्मान और कहाता अमर देवता।

यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि।
तवेत्तत्सत्यमङ्गिरः।।६।।

यत्, अंग, दाशुषे, त्वम्, अग्ने, भद्रम्, करिष्यसि, तव्, इत्, सत्यम् अंगिरः।

जिस (यत्) धरा के अंग (अंग) को जलाते हैं यज्ञ करते हैं (दाशुषे) आप ! हे ! ब्रह्मज्वाला। हें अग्ने ! उसका करते कल्याण (भद्रम्) आपकी ही (तव् इत्) उस प्रकृति (सत्यम्) का अंग (अंगिरः) बनकर होता प्रकट; पाता उद्धार !

जीवन के अमृत खोकर शरीर लौटता अवनि पर भस्मी के कणो में ! आत्मा करता यज्ञ वनस्पतियों के उदर में, पाता उद्धार बनकर अंग वनस्पति का ! भोजन में ग्रहण करते प्राणी वनस्पतियों को, यज्ञ होकर जन्मता यथा सन्तति में ! होता कल्याण !

आवागमन की सम्पूर्ण कथा, वेद की एक ऋचा ! तन भस्मी बना, चिता की शैया पर ! भस्मी ने पानी का संग किया, डोलती चली, खेतों में, वनस्थलियों में ! आत्मा ने यज्ञ किये पेड़ वनस्पतियों के अन्तर में ! भस्मी वनस्पतियों के रूप में उत्पन्न हो उठी ! भोजन बन यज्ञ हुई वनस्पतियां, यथा सन्तति बन उत्पन्न हो उठी, तन की भस्मी पुनः, न जाने कितनी कितनी बार ! बारम्बार !!

उप त्वाग्ने दिवेदिवे दोषावस्तर्धिया वयम्।
नमो भरन्त एमसि।।७।।

उप, त्वम्, अग्ने, दिवे, दिवे, दोषः, वस्तः, धिया, वयम्, नमः, भरन्त, एमसि।

व्याप्त (उप) हो गई तुममें (त्वम्) हे ! ब्रह्माग्नि (अग्ने) कलुष एवं दोषों (दोषः) के बिस्तरों (वस्तः) पर सो रही बुद्धियां (धिया) हमारी (वयम्) ! नित्य (दिवे) ज्वालाओं का संग कर हुई अमर (दिवे) । हे महान ! हे भरत (भरन्त) हे ! भरतार । हम करते नमन (नमः) बारम्बार! ऐसे (एमसि) भरत आपको !

जीव मात्र के बन श्रीराम ! उनके जूठे भोजन को देते शबरी का सम्मान ! जीव मात्र की जूठन को ग्रहण कर लौटाते रक्त और ऊर्जा में, हे घटघट वासी ! हे भरत ! नहीं करते उनके कलुष और दोषों का भान ! ऐसे हे भरन्त महान ! तुम्हें शत शत प्रणाम !

राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिविम्।

वर्धमानं स्वे दमे।।८।।

राजन्तम्, अध्वराणाम्, गोपाम्, ऋतस्य, दीदिविम, वर्धमानम्, स्वः, दमः।

हे जगमग ज्योतियों (राजन्तम्) के अनन्त पुंज ! अमर (अध्वराणाम्) दीप्तियों से ग्रहों (गोपाम्) नक्षत्रों को टिमटिमाने (दीदिविम्) वाले ! हे विष्णु ! (वर्धमानम्) हमें भी हमारी आत्मा (स्वे, स्वः) में आत्मज्योतियों में दमकने (दमे, दमः) दो। हम सब भी दमक उठें आत्मज्योतियों से !

सहस्त्रों सूर्यों को ज्योति प्रदान करने वाला परमेश्वर, बनके घटघट वासी आत्मा बैठा है हम सब के भीतर ! फिर क्यों न दमकें हम ग्रहों नक्षत्रों से भी सुन्दर ! योगी हों ! जुड़ जायें आत्मा अनन्त से ! अंश और अंशी का मिलन हो ! देह के क्षीरसागर में !

स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव।

सचस्वा नः स्वस्तये।।६।।

स, नः, पितेव, सूनवे, अग्ने, सूपायनो, भव, सच, स्वः, नः, स्वस्तये।

जैसे (स) पिता (पितेव) अपने पुत्रों (सूनवे) को अपनी शोभाओं (सूपायनो) से युक्त

(भव) करता है। उसी प्रकार हे आत्मा ! एक पिता की भांति (पितेव) हम सबको (नः) अपनी शोभाओं (सूपायनो) से युक्त कीजिये (भव)। जोड़कर (सच) हमें हमारी (नः) अन्तरात्मा से आत्म स्थित (स्वस्तये) कीजिये।

जग की रीति भी यही है। पिता प्रदान करते अपने जाये पुत्रों पर जीवन की शोभायें सारी; नाम, गोत्र, रूप, ऐश्वर्य, सम्मान एवं सम्पदायें सारी ! आत्मा ही पिता हमारा ! संयुक्त हों हम अपने पिता की शोभाओं से ! योग हो आत्मा से, योगी हों हम ! मिलें हम अपने जनक से !

प्रथम सूक्त का पाठ पूर्ण हुआ है। बालकों का वेद से प्रथम मिलन है। गुरूदेव बालकों के मन के खाली घड़े वेद के इस अनुपम अमृत से भर रहे हैं। बस, हमें विश्वास ही नहीं हो रहा है। बालकों को बाद में आचार्य पुनः इनके सरल अर्थ करके समझायेंगे। रात्रि में गुरूमातायें नाना पौराणिक कथाओं में उदाहरण सहित इन ऋचाओं के रहस्य उनके भोले निष्पाप मन के भीतर गहराई तक उतार देंगी। बालक और उसका ज्ञान अलग अलग नहीं रहेंगे। बस एक हो जायेंगे। ज्ञान ही बालक है। बालक ही ज्ञान है।

आजकल तो जीवन पर्यन्त बालक प्रकृति के सत्य को जान नहीं पाता है। मैं, मेरा, मुझको और ढेर सारा झूठ लिये इस योनि से विदा हो जाता है। आत्मा ही हम सबका जनक है। यह बात अब भ्रमित मस्तिष्क में कैसे और क्योंकर उतर पायेगी। काश ! हम अपनी मूल अवनि को एक बार फिर छू पाते ! चूम लेते उस पथ को जहां से गुजरी हैं पूर्व की असंख्य पीढ़ियां हमारी !

आधुनिक ज्ञान और विज्ञान भी जहां बौना बनकर रह जाता है, वहां से वेद का आरम्भ होता है। उसकी प्रथम धारा फूटती है बालक के भोले, जिज्ञासु, निर्मल एवं पवित्र मन में ! क्या तथाकथित आधुनिक समझदार के लिये अब यह समझ पाना तथा जी पाना सम्भव है ?

प्राण वायु !

बालकों के चेहरों पर विचित्र आभा सी उतर आयी है। उन्हें अपने होने पर गर्व है। उनके शरीर आत्मा भरत की पवित्र यज्ञशाला हैं। आज उनके दृष्टिकोण अपने प्रति भी बदल गये हैं। उनके शरीर ही परमेश्वर के पावन मन्दिर हैं। परमेश्वर उनके शरीर में निरन्तर यज्ञ करते उन्हें जीवन के अमूल्य क्षण प्रदान करते हैं। वे तो सृष्टि की पवित्रतम धरोहर हैं। अपने शरीर को दूषित अथवा मैला कैसे कर सकते हैं ? ऐसा करना तो नारायण के प्रति अपराध होगा। वे पापी कहलावेंगे। प्रभु की पावन धरोहर हैं उनके शरीर तथा जीवन का प्रत्येक क्षण ! मैला अथवा दूषित तो वे कदापि नहीं कर सकते। ऋग्वेद के प्रथम सूक्त में वे पढ़ चुके हैं।

मन्दिर भी उनके शरीर के बिम्ब हैं। मूर्ति आत्मा साक्षात का रूप है। वे ही तो प्रभु के मन्दिर के जीव रूप पुजारी हैं। शरीर प्रभु का पवित्र मन्दिर है। पुजारी भला इसे किस प्रकार मैला अथवा दूषित कर सकता है। नहीं; कदापि नहीं ! वे प्राण प्रण से शरीर की पवित्रता की रक्षा करेंगे। कभी भी इसे अपवित्र नहीं होने देंगे। संकल्प का ओज उनके चेहरों से स्पष्ट झलक रहा है। उनके मन के खाली घड़े आत्मा के अमृत से भर रहे हैं।

ग्रहों, नक्षत्रों के पार आकाश गंगाओं की धरोहर हैं वे ! उनकी जड़ें आकाश गंगाओं तक फैली हुई हैं। क्षीरसागर, जो अतिशय पवित्र है, उनका उदगम है। उन्हें अपने तप, साधना तथा उत्तम आचरण से अपने जन्म स्थान अर्थात क्षीर सागर को प्राप्त होना है। वे कदापि मिथ्याचरण नहीं कर सकते। कोई एक जीवन ही थोड़े ही है; वे तो अमर आत्मा की कृति उत्पत्ति हैं। मृत्यु तो मात्र वस्त्र के बदलने जैसा है। वे भौतिक तथाकथित सुखों अथवा आसक्तियों के लिये जन्म जन्मान्तर भटकने को कदापि तैयार नहीं हो सकते। उन्हें वस्त्र (जीवन, योनि) बदलना स्वीकार है, परन्तु अनन्त की यात्रा कदापि भटकने नहीं देंगे। वे आत्मा 'भरत' के पुत्र हैं, महान भारत हैं।

उन नौनिहालों के दमकते चेहरे देख कर मन तड़प उठा है। क्या कभी इन्डिया, हिन्दोस्तां फिर से भरतखण्ड का भारत सही अर्थों में बन पायेगा ? गुरुदेव आसन पर विराज गये हैं। बालक उनके साथ दूसरे सूक्त का पाठ करेंगे। दूसरे सूक्त में वायुदेव की स्तुति वन्दन है। वे ही सम्पूर्ण यज्ञों के उपाचार्य अर्थात अच्छावाक हैं। वे ही प्राणों का प्रतीक हैं।

वायवायाहि दर्शतेमे सोमा अरंकृताः।

तेषां पाहि श्रुधी हवम्।। २/१।।

वायव्, आयाहि, दर्श, तेमः, सोमा, अरंकृताः, तेषाम्, पाहि, श्रुधी, हवम्।

हे प्राणवायु ! (वायव्) आवाहन (आयाहि) है आपका ! हमारे आत्माद्वैत (दर्श) रूपी यज्ञ में ! स्निग्ध जीवन ज्योति रूपी सोम तेज (सोमा) से अलंकृत (अरंकृताः) करने वाले। हे सचराचर के प्राण आप पधारें ! हमारे आत्म यज्ञ को सोम से जीवन्त करें। इस यज्ञ में हम अद्वैत जन्म लेने के लिये संकल्पित हैं। आप उन (तेषाम्) यज्ञों (हवम्) की रक्षा (पाहि) करें तथा यज्ञ में प्रकट नूतन जीवन रूपी नवजात संकल्प (श्रुधी) की रक्षा करें।

जीवन एक सम्पूर्ण यज्ञ है। आत्मा में यज्ञ के द्वारा जीव को पुनः जन्म धारण करना है। ऐसे यज्ञों की संज्ञा दर्श यज्ञ है। आत्मदर्शन, पुनः मिलन और अद्वैत जन्म, अर्थात जीव और आत्मा का योग (मिलन) द्वारा सदा के लिये एक हो जाना। आज आवाहन कर रहे हैं हम अति बलवान वायु देवता का, जो सचराचर के प्राण हैं। प्राणवायु कहलाते हैं। वे ही सर्वत्र आत्मा आचार्य के साथ प्राणवायु बन उपाचार्य के पद पर सुशोभित होते हैं।

एक विचित्र रहस्यमयी कल्पना है अतीत के विलुप्त युगों की। मुझमें समाया है सचराचर सम्पूर्ण ! मैं ब्रह्माण्ड का सूक्ष्म परन्तु पूर्ण बिन्दु हूँ। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड अपनी सम्पूर्ण क्रियाशक्ति, सामर्थ्य एवं सत्ता के साथ, सूक्ष्म होकर मुझमें विद्यमान है। जो कुछ भी सचराचर में सम्भव है अथवा हो रहा है वह मुझमें भी उतना ही सम्भव है तथा निश्चय ही हो सकता है। आत्मा ही परमात्मा का सूक्ष्म रूप ग्रहण कर मुझमें वास करता है। आत्मा, परमात्मा का ही लीला रूप है तथा परमात्मा की भांति ही सर्व शक्तिमान है। प्राणवायु उपाचार्य होकर मुझमें विद्यमान है। जिसने मुझे

बनाया है वह सूक्ष्म होकर मुझमें समाया है। वह समर्थ है मुझे नित्य स्वरूप प्रदान करने में। बस मुझे मिलना है उससे अपने भीतर !

वाय उक्थेभिर्जरन्ते त्वामच्छा जरितारः।

सुतसोमा अहर्विदः।।२/२।।

वाय, उक्थेभिः, जरन्ते, त्वाम्, अच्छा, जरितारः, सुत, सोमः, अहर्विदः।

हे ! महान प्राणवायु (वाय) सृष्टि उत्पति अथवा यज्ञ के स्तोत्र (उक्थेभिः) क्षीण (जरन्ते) होने लगते हैं, तुम (त्वाम्) बनते उपाचार्य (अच्छा) अच्छावाक, करते प्रज्जवलित अग्नियों के स्तोत्रों को सौम रूपी घृत से सींचकर; थक जाती वाणी आचार्य की होंती क्षीण, तुम बन उपाचार्य उठाते पाठ अपनी वाणी से। होते जब क्षीण जीवन के स्तोत्र, और भस्मी के अम्बार में लौटता मानव तन। आत्मा बुनता उसे पुनः मानव तन में, तुम बनते अच्छावाक दिलाते तारण जरत्व (जरितारः) से। निचोड़ कर (सुत) श्वासों का अमृत (सोमा) करते उसके जीवन को नित्य निरन्तर (अहर्विदः)।

जीवन है एक निरन्तर यात्रा। एक यज्ञ, जो रूप बदलता, फिर भी चलता निरन्तर ! क्षीण हो जाते जब जीवन के स्तोत्र; मृत्यु की काली चादर ओढ़, खो जाते भस्मी के कणों में ! आत्मा बनके बुनकर, कण कण बीनता, फिर जोड़ता, फिर सीता ! बनाता एक खिलौना नया ! प्राणवायु, बन उपाचार्य, बन अच्छावाक, प्राणों के सोम से सींचता निरन्तर, जीवन पाता कुमारवस्था पुनः ! यही तो है आवागमन ! यहीं है यज्ञ जीवन के, अहर्निश !

वायो तव प्रपश्ञ्चती धेना जिगाति दाशुषे।

उरूची सोम पीतये।।२/३।।

वायो, तव, प्रपश्ञ्चती, धेना, जिगाति, दाशुषे, उरूची, सोम, पीतये।

हे प्राणवायु (वायो) आप (तव) अस्सीम व्यापक (प्रपश्ञ्चती) सचराचर रूपी सागर (धेना) के जिगत्नु अर्थात प्राणवायु (जिगाति) हैं। आप ही अग्नियों में उद्धार (दाशुषे) करने वाले हैं। आप ही सम्पूर्ण सचराचर को व्यापकता से सम्पूर्णता

(उरूची) से जीवन का अमृत (सोम) पिलाने (पीतये) वाले हैं। आपके अतिरिक्त दूसरा कोई भी नहीं है। इसलिये हमारे वर्तमान दर्श यज्ञ के आप ही उपाचार्य बने।

नहीं हो सकता उपाचार्य कोई दूसरा, सम्पूर्ण लोकों में, आपके बिना ! हे प्राणवायु ! आपके बिना सब यज्ञ अधूरें हैं। आप ही जीवन की स्निग्ध सोम रूपी जीवन ज्योतियों का पान कराने वाले हैं। आप अकेले ही उपाचार्य हैं अखिल सचराचर के। आप हमारे यज्ञ में आत्मा के साथ उपाचार्य के पद को सुशोभित कर हमें कृतार्थ करें।

इन्द्रवायु इमे सुता उप प्रयोभिरागतम्।
इन्दवो वामुशन्ति हि।। २/४।।

इन्द्र, वायु, इमे, सुता, उप, प्रयोभि, आगतम्, इन्दवाः, वाम, उशन्ति, हि।

हे महान (इन्द्र) प्राणबायु (वायु) आपके द्वारा इस प्रकार (इमे) निचोड़े हुए अथवा उत्पन्न किये हुए (सुता) अमृत का पान प्रयत जितेन्द्रिय (प्रयोभि) ही कर सकता है जो व्याप्त (उप) होता यज्ञ में (आगतम्) आकर। जिसप्रकार देवलोक के अधिपति इन्द्र के द्वारा भेजा (इन्दवाः) गया गुरू पुत्र कच, महान शुक्राचार्य (उशन्ति, उशनन, उशनस शुक्राचार्य के नाम) के बायें (वाम) अंग को फाड़कर उनके हिय (हि) से संजीवनी मन्त्र लेकर उत्पन्न हो गया था। उसने नया जन्म अमृत सहित पाया था।

देवासुर संग्राम चल रहा था। देवताओं के गुरू थे देवगुरू बृहस्पति । असुरों के गुरू थे शुक्राचार्य। शुक्राचार्य के पास संजीवनी मन्त्र था। जितने असुर युद्ध में मारे जाते शुक्राचार्य उन्हें संजीवनी मन्त्र से पुनः जीवित कर देते। देवताओं के पास यह मन्त्र नहीं था। उन्होंने देवगुरू के पुत्र कच को चन्द्रमा तथा कामदेव के साथ संजीवनी मन्त्र लाने के लिये भेजा।

अपनी पुत्री देवयानी के कहने पर शुक्राचार्य ने कच को शिष्य के रूप में ग्रहण कर लिया। जब असुरों को पता चला तो उन्होंने कच को मार डाला। शुक्राचार्य ने संजीवनी मन्त्र के प्रभाव से कच को पुनः जीवित कर दिया। खीजकर, असुरों ने पुनः कच को मारकर, जलाकर, उसकी भस्मी को शबर्त में मिलाकर शुक्राचार्य

को ही पिला दिया। कच को अपने पेट में जानकर शुक्राचार्य और उनकी पुत्री बहुत दुखी एवं क्षुब्ध हो उठे। कच को जीवित करने का अर्थ था शुक्राचार्य की मृत्यु। तब आचार्य ने कच को अपनी देह के भीतर संजीवनी मन्त्र की दीक्षा देकर पुनः संजीवनी मन्त्र से अभिमन्त्रित कर जीवित कर दिया। कच शुक्राचार्य के वाम (बांये) शरीर को फाड़कर प्रकट हो गया। शुक्राचार्य की मृत्यु हो गई। तब कच ने संजीवनी मन्त्र से आचार्य को पुनः जीवित किया।

यह कथा विस्तार से बहुत से पौराणिक ग्रन्थों में आयी है। इसकी चर्चा ऋग्वेद में भी उदाहरण के रूप में उपरोक्त ऋचा में है। इसे नाटकों तथा लीलाओं में भी अनन्त काल से दर्शाया जाता रहा है। इसका उद्धेश्य वेद में इतना ही है कि जो जितेन्द्रिय प्रयत पूर्ण रूपेण आत्मा में स्वयं को अनासक्त और ईच्छारहित होकर समर्पित करते हैं, उन्हें ही यज्ञकुण्ड के सोम अमृत को पान करने का अवसर मिलता हैं वे ही अमर होते हैं। वे ही सत्य रूप में यज्ञ के रहस्य को जाननेवाले तथा सामर्थ्यवान हैं।

हे प्राणवायु ! आपके द्वारा आत्मकुण्ड में प्रकट सोम रूपी अमृत का पान किसने किया ? जो जितेन्द्रिय आत्मज्ञानी आत्मा से अद्वैत अर्थात योग कर आत्मा में ही प्रवेश पा गया। उसने ही पाया जीवन का सत्य। वही हुआ धन्य और पाया अनन्त उसने !

वायविन्द्रश्च चेतथः सुतानां वाजिनीवसू।

तावायातमुप द्रवत्।। २/५।।

वायव, इन्द्रः, च, चेतथः, सुतानाम्, वाजिनी, वसू, तावत्, आयातम्, उप, द्रवत्।

हे प्राणवायु ! (वायव) आपके तथा (च) आत्मा (इन्द्रः) के द्वारा चैतन्य (चेतथः) किये यज्ञ की (वाजिनी) अग्नियों (वसू) में निचुड (उप) गये जो शीघ्रता (तावत्) से आकर (आयातम्) वे पुत्रवत (सुतानाम्) पाये जन्म नया !

वे जो होते आत्मसमर्पित ! मिटाते स्वयं को अपनी ही ब्रह्मज्वालाओं में ! जन्मते अमर जन्म लेकर ! लिखते भाग्य अपने स्वयं ! यज्ञ के रहस्य पाते वही !

वायविन्द्रश्च सुन्वत आयातमुप निष्कृतम्।
मक्ष्विःत्था धिया नरा।। २/६।।

वायव, इन्द्रः, च, सुन्वत, आयातम्, उप, निष्कृतम्, मखः, इत्, स्थः, धिया, नरा।

हे प्राणवायु ! (वायव) आपके तथा (च) महान आत्मा (इन्द्रः) में आकर (आयातम्) जिसने स्वयं को मिटा (निष्कृतम्) दिया। ब्रह्मज्वालाओं से पुनः पाया जन्म (सुन्वत) नया। ऐसे रूप को धारण करने वाला ही यज्ञ (मखः) की भांति (इत्) ही अटल स्थित (स्थः) अमरता को धारण (धिया) कर हुआ ज्वाजल्यमान, ज्योतिर्मय अग्नि (नरा) सदृश्य !

अर्पित होते जो तुममें हे प्राणवायु ! भस्म करते निज को अपनी ब्रह्मज्वालाओं में। होकर यज्ञ पाते फिर एक जन्म अमर और नया ! अमर यज्ञ की भांति हो अमर, स्थायी और ब्रह्माग्नि से सुन्दर !

यज्ञ से उत्पन्न हूँ मैं ! यज्ञ से ही जन्मता रहा हूँ मैं ! यज्ञ से ही सम्भव है जन्म नया ! फिर क्यों न जलूं यज्ञ सा, अद्वैत हो यज्ञ से ! माता पिता तो पात्र मात्र हैं। वे तो अपने ही शरीर का अंग बनाना नहीं जानते ! आत्मा ही यज्ञ के द्वारा बनाता सबको, सर्वत्र ! यज्ञ से ही पुर्नजीवन है सम्भव ! यज्ञ से कर अद्वैत यज्ञ सा ही क्यों न जन्म लूँ मैं !

मित्रं हुवे पूतदक्षं वरूणं च रिशादसम्।
धियं घृताचीं साधन्ता।। २/७।।

मित्रम्, हुवे, पूत, दक्षम्, वरूणम्, च, रिशादसम्, धियम्, घृताचीम्, साधन्ता।

जिसने प्रज्जवलित किये महाप्रलय के आदित्य अपनी आत्मा यज्ञ में ! आवाहन किया आदित्य मित्र और वरूण (मित्रम्, वरूणम् च) का जलकर प्रलय की महाज्वालाओं में (दक्षम्) सर्वस्व अपना हो गया अकिंचन (साधन्ता) भिखारी ! और पवित्र (पूत) करता धारण (धियम्) वही (घृताचीम्) ब्रह्मविद्या !

महाप्रलयकाल के द्वादश आदित्य मित्र और वरूण आदि होते प्रकट यज्ञ की अग्नियों में आत्मा की ! जीव बनकर यजमान भस्म करता अतीत और उपलब्धियां सम्पूर्ण ! होकर पवित्र प्रलय की अग्नियों में बन अकिंचन पाता ब्रह्मविद्या का दान! खाली घडे ही भर पाते नये अमृत से ! भरे घट नहीं पाते जल नया ! ब्रह्मज्ञान का दान पाता वही जो करता प्रवेश आत्म कुण्ड में ! प्रलय के आदित्यों का आवाहन कर करता स्वयं को अर्पित ! जल कर होता पवित्र और अकिंचन ! पाता अमृत ज्ञान ब्रह्म एवं सामर्थ्य, सृष्टि, प्रलय एवं उत्पत्ति का ! अमर सृष्टा का पुत्र होता अमर ! पाता जीवन का अभीष्ट !

ऋतेन मित्रावरूणावृतावृधावृतस्पृशा।

क्रतुं बृहन्तमाशाथे।। २/८।।

ऋतेन, मित्रा, वरूणा, ऋतः, वृधा, ऋत, स्पृशा, क्रतुम्, बृहन्तम्, आशाथे।

आत्मज्ञान (ऋतेन) ब्रह्मज्ञान के लिये जिसने प्रलय के आदित्यों (मित्रा, वरूणा आदि) का आवाहन किया। यज्ञ के द्वारा आत्मज्ञान (ऋतः) की निरन्तर वृद्धि (वृधा) की तथा आत्मा (ऋत) अनन्त का स्पर्श अर्थात (स्पृशा) अद्वैत पा गया जो ! ऐसे यज्ञ को करने (क्रतुं) वाले अनन्त असीम (बृहन्तम्) आकाश में व्याप्त (आशाथे) हो अनन्त हो जाते हैं।

तप, समाधि, जप एवं योग को अर्पित होकर जीवन के परम् लक्ष्य आत्माद्वैत को अर्पित समर्पित होकर आत्मा में ही स्थापित हो गये जो ! आत्मा के ज्ञान की वृद्धि की योग के द्वारा ! पाया आत्मा का स्पर्श ! मिलन हुआ अनन्त से, जुड़ गये अनन्त से ! प्रलय की ज्वालाओं में रूप मिटाकर अपना तद्रूप प्रकट हुए ! वे ही यज्ञ के ज्ञानी हैं। पाया रहस्य उन्होने ! अनन्त हुए वे !

कवी नो मित्रावरूणा तुविजाता उरूक्षया।

दक्षं दधाते अपसम।। २/६।।

कवी, नो, मित्रा, वरूणा, तु, विजाता, उरूक्षया (उर+अक्षयः), दक्षम्, दधाते, अपसम।

हे घटघटवासी (उरूक्षया) आत्मा (कवी) हे ईश्वर ! आज हममें (नो) प्रलय (मित्रा वरूणा इति) को प्रज्जवलित करो तथा (तु) प्रलय एवं उत्पत्ति (अपसम) के अग्नियों (दक्षम्) के द्वारा हमें धारण (दधाते) कराओ वर्णसंकरता (विजाता) नयी।

भस्मी के वर्ण बन भटकते थे मानव तन हमारे । हे आत्मा ! आपने भस्मी के कणों को यज्ञ की प्रलय अग्नियों में पवित्र कर उन कणों को वर्णसंकर किया तो वे भस्मी से वर्णसंकर हो वनस्पतियों के वर्ण को प्राप्त हुए। पुनः यज्ञ के द्वारा वे वर्णसंकर हुए और वनस्पतियों से वर्णसंकर होकर जीवधारियों के वर्ण में आये, मानव कहलाये !

हे घटघटवासी ! हे जगतपिता ! हे आत्मा ! आज हम फिर अर्पित हैं आपको ! हे जगदीश्वर यज्ञ के द्वारा हमारा उद्धार करो ! प्रलय एवं उत्पत्ति के अग्नियों के यज्ञ द्वारा हमें पुनः वर्णसंकर करो ! हम मानव के वर्ण से वर्णसंकर हो देवताओं का वर्ण पायें ! अनन्त बन अनन्त की राह लें ! मानव जीवन के मात्र अभीष्ट को पाकर विजयी हों !

गुरूदेव ने दूसरे सूक्त का संक्षिप्त पाठ नवप्रसूनों को करवाया है। अब वे आचार्यों से इसका विस्तार लेंगे। पुनः रात्रि में गुरूमाताओं एवं आचार्यमाताओं से कथाओं द्वारा रहस्यों को पाने की चेष्टा करेंगे। गुरूकुल उन्हें अत्यधिक भा गया है। उन्हें लगता ही नहीं कि वे घर से इतनी दूर आ गये हैं। यहां का वातावरण अत्यधिक मनोरम एवं आकर्षक है। अगले सूक्त जानने की ललक बढ़ती जा रही है प्रत्येक ऋचा रहस्यमय ढंग से खुलते ही उनके अस्तित्व में समा जाती है।

प्रलयाग्नि !

बालकों के भोले मन में झांककर हम भी वेद के अद्भुत रहस्य जानने का प्रयास कर रहे हैं। जिन्हें बालकों के भोले निर्मल मन के निष्पाप रीते घट सहज ही आत्मसात कर रहे हैं, हमें पचाने में काफी समय और पीड़ा बोध से गुजरना होगा। जानकर भी जान पायेंगे ? इसमें भरपूर सन्देह है। जानने के बाद मानने की बात होगी और तब कहीं इस पावन मार्ग पर चलने की बात हममें कोई सोचेगा। चलेगा? कोई जरूरी नहीं। चलने के बाद भी सन्देह है कि चलता ही रहेगा अथवा बीच में ही राह बदल जायेगा। आज बुढ़ापे तक जो ज्ञान पाना, समझना अथवा चलना असम्भव सा लगता है, उसे मानवपुत्र बाल्यकाल में ही सहजता से पा लेते थे तथा जीवन को परमेश्वर की वरद धरोहर मानकर ही जीते थे। कितना विचित्र और अविश्वसनीय सा लगता है।

एक नूतन उदाहरण के साथ देखें। देश में पुलिस इन्सपेक्टर, सेनापति, मुख्यमंत्री अथवा प्रधानमंत्री आदि देश का संचालन करते हैं। इन्हें अधिकार कौन देता है ? क्या वे खुद बनाते हैं अथवा घर से लाते हैं ? सोचें ? अधिकार इन्हें कहां से मिलते हैं और क्यों मिलते हैं ? साथ ही इन्हें उनका प्रयोग अपने लोभ में करना चाहिये अथवा न्याय और राष्ट्र के हित में करना चाहिये ?

आप का एक ही उत्तर होगा कि उन्हें सारे अधिकार भारत के राष्ट्रपति से प्राप्त होते हैं। यह सारे अधिकार राष्ट्रपति भी अपने घर से नहीं लाता है, उसके पास यह राष्ट्र की धरोहर हैं। इनका प्रयोग कर्त्तयनिष्ठ होकर करना ही उचित है। अन्यथा प्रयोग बेईमानी, भ्रष्टाचार ही कहलावेगी।

अब एक बात आपसे सीधी और सपाट करना चाहूंगा। आप को जीवन, सत्ता और सामर्थ्य शक्ति कहां से प्राप्त होती है ? जीवन के अमूल्य क्षण आप पाते कहां से हैं ? दुनियां के राष्ट्रपति अर्थात परमेश्वर से ! आप को भी तो अपने अधिकार का

प्रयोग उसी प्रकार कर्त्तयनिष्ठ होकर निमित्त भाव से करना चाहिये जैसे प्रधानमन्त्री, मुख्यमन्त्री, सेनापति अथवा इन्सपेक्टर को भारत के राष्ट्रपति के निमित्त होकर कार्य करना ही धर्म है।

यदि इन्सपेक्टर अथवा कोई नेता अपनों के हितों की रक्षा में अधिकार का प्रयोग करने लगे। अपनों के हित साधन में घूस तथा पद का प्रभाव इस्तेमाल करने लगे तो क्या आप उसे सही ठहरायेंगे ? आप उसे भ्रष्ट, बेईमान, निकृष्ट और बहुत कुछ ऐसा ही कहना चाहेंगे।

एक प्रश्न का और आपसे सीधा, सपाट और ईमानदार उत्तर चाहूंगा। आप भी दुनियां के राष्ट्रपति द्वारा प्रदत्त सत्ता एवं अधिकारों को उनके निमित्त होकर सचराचर के हित में ही प्रयोग कर सकते थे। फिर आपने स्वार्थी भावना एवं संकीर्णताओं के वशीभूत होकर अधिकारों का दुरूपयोग कैसे और क्योंकर किया? यदि उपरोक्त अधिकारी, नेता एवं उच्च पदाधिकारी भ्रष्ट, बेईमान और जघन्य अपराधी एवं राष्ट्रद्रोही थे, तो आप भी तो सचराचर द्रोही, बेईमान एवं भ्रष्ट हैं ? आपने भी तो परमेश्वर की सत्ता का सदा सर्वदा दुरूपयोग किया है ? आप बेशक सीधे उत्तर से भागना चाहेंगे। सैकड़ों बहाने और कुतर्कों की मजबूत आड़ लेकर बचना ही नहीं, अपने प्रत्येक कर्म को कुकर्म के स्थान पर सुकर्म सिद्ध करना चाहेंगे। अफसर, नेता और मन्त्री भी ऐसा ही करता है।

इसमें आपका पूरा दोष भी नहीं है। आप कभी भी इस स्तर पर गुरूकुल में सुशिक्षित नहीं किये गये। आपने तो जो जाना, देखा अथवा सुना, वही किया। जो बड़ों ने किया आपने श्रद्धापूर्वक उसका भरपूर ईमानदारी से अनुसरण किया। आप, अपनों की दिखायी राह पर चलते रहे।

आधुनिक शिक्षा जिसके प्रणेता लार्ड मैकाले कहे जाते हैं, गुलामी के समय की देन है। भारत की आजादी के उपरान्त भी दुर्भाग्य से यथावत चल रही है। इसका भी एक विदेशी यज्ञोपवीत है, जिसके तीन तागे भी हैं :–

१. अच्छी ओहदेदार नौकरी २. मोटी तन्खा और सुविधायें ३. तगड़ी ऊपर की आमदनी। आप चाहें तो घूस कह सकते हैं।

इस देश का दुर्भाग्य है कि तबसे आज तक कोई शिक्षाविद्ध इसे बदल ही नहीं पाया। हुआ भी अथवा हुआ ही नहीं, कौन जाने !

गुरूकुल शिक्षा में यज्ञोपवीत तथा ऋषि के द्वारा बालक के मन के खाली घड़े युगान्तर दृष्टा ऋषि किस प्रकार भर रहे हैं, हम उसे देख रहे हैं। बालक को आधारभूत ईमानदारी कर्त्तयनिष्ठा का अमर ज्ञान देने के लिये, उसे उसका सही स्वरूप दिखाना अति आवश्यक है। ज्ञान देते समय इसका भान भी करना होगा कि शिक्षा को छात्र पशुवत मात्र ओढ़े ही नहीं, वरन पूरी निष्ठा से आत्मसात करे। शिक्षा और छात्र, एक अस्तित्व, एक व्यक्तित्व होकर रह जायें।

प्रथम दो सूत्रों में बालकों ने यज्ञ के आचार्य और उपाचार्य के रूप में स्वयं को, अपनी आत्मा को तथा प्राणों को प्रथम बार पहचाना है। आत्मा ही यज्ञ का आचार्य अधिष्ठाता है। प्राणवायु ही यज्ञ का उपाचार्य है। शरीर ही परमेश्वर की पवित्र यज्ञशाला है। अब बालक जानेंगे यज्ञ की वेदी तथा यज्ञ की अग्नि क्या है ? गुरूदेव विराजमान हैं। बालक आचार्यो के साथ उत्सुकता से उन्हें निहार रहे हैं। अमृत वर्षा अब होने को ही है।

अश्विना यज्वरीरिषो द्रवतपाणि शुभस्पती।
पुरूभुजा चनस्यतम्।। ३/१।।

अश्विना, यज्वरीरिषो, द्रवत, पाणि, शुभस्पती, पुरू, भुजा, चनस्यतम्।

हे सूर्य (अश्विन) की पत्नी (अश्विना) हे ब्रह्मज्वाला ! यज्ञों के द्वारा सचराचर का भरण पोषण एवं संहार करने वाली (यज्वरीरिषो = यज्+वरि+अरि+इषः) ! लहराती लपलपाती हथेलियों अथवा जिव्हाओं वाली (द्रवतपाणि) असंख्य भुजाओं अथवा मुखों से (पुरूभुजा) सचराचर का सामिग्रीवत भक्षण करने वाली (चनस्यतम्) चबानेवाली। आवाहन करते तुम्हारा !

हे ब्रह्मज्वाला ! हे यज्ञ की पवित्र अग्नि ! सचराचर को यज्ञों के द्वारा उत्पन्न एवं संहार करने वाली ! आप ही अम्बा जगदम्बा हैं ! आपको ही दुर्गा, लक्ष्मी एवं सरस्वती के रूप में वेदों ने गाया है। आप ही जगत माता हैं। आपके गर्भ से ही सचराचर प्रकट होता है तथा आप में ही सचरावर लय हो जाता है। आप ही सूर्य की पत्नी संज्ञा हैं। मनु, यम, यमुना तथा अश्विनीकुमारों की माता हैं। आप ही यज्ञ की अग्नि तथा महाप्रलय की ज्वाला हैं। आप ही सोम ज्योति हैं। आप ही जड़ को चेतन में तथा जीवन्त सचराचर में प्रकट करती हैं। आप ही यज्ञ की ज्वाला बन प्रत्येक जीवधारी के देह में समायी हुई हैं। प्रत्येक नवजात शिशु आपके ही

गर्भ में पलता जन्म धारण करता है। माता के गर्भ में आप ही मां बन शिशु का निर्माण, धारण एवं जन्म करती हैं। भौतिक माता तो एक छोटा सा अंग भी बनाना नहीं जानती। हे मां ! इस यज्ञ में भी हम आवाहन करते आपका। आप ही हमारे दर्श यज्ञ की ज्वाला, जननी बने !

अश्विना पुरूदसंसा नरा शवीरिया धिया।
धिष्ण्या वनतं गिरा।। ३/२।।

अश्विना, पुरू, दंससा, नरा, शवीरिया, धिया, धिष्ण्या, वनतम्, गिरा।

हे ब्रह्मज्वाला (अश्विना) असंख्य (पुरू) शूलों (दंससा) लपटों को धारण करने वाली। हे नारायणी (नरा) सम्पूर्ण जड़, चेतन सचराचर (शवीरिया) का धारण (धिया) करने वाली। हे महाज्वाला ! हे मां अग्नि ! वेदी बनाकर यज्ञ की (धिष्ण्या) आवाहन एवं विनती (वनतम्) वन्दन एवं स्तुति (गिरा) करते हैं।

हे असंख्य शूलों को धारण करने वाली ! हे कौशल्या (कौ = असंख्य + शल्या = शूलों को धारण करने वाली। श्री रामचन्द्र की जननी) ! सम्पूर्ण जड़ चेतन सचराचर को धारण करने वाली ! आज आवाहन है आपका। हम दर्श रूपी जीवन यज्ञ को परमेश्वर के निमित्त होकर धारण करने जा रहे हैं। हमारे आत्मा ही हमारे आचार्य हैं। हमारा प्राणवायु ही हमारा उपाचार्य है। शरीर ही परमेश्वर की पवित्र यज्ञशाला हैं। जीव रूप हम यजमान हैं और हमारे जीवन का प्रत्येक क्षण सामिग्री बन अर्पित होगा आपकी अग्नियों में। आवाहन है आपका ! आपके अतिरिक्त कोई दूसरी माता भी तो नहीं है सम्पूर्ण लोकों में ! आप ही श्रीराम एवं श्रीकृष्ण की भी माता हैं। आप ही कौशल्या हैं आप ही देवकी (देवकी ? देव = आत्मा तथा देवकी = आत्मा की अग्नि) हैं। यज्ञ की वेदी में आवाहन है आपका ! कृपा कर प्रकट हों!

दस्रा युवाकवः सुता नासत्या वृक्तबर्हिषः।
आयातं रूद्रवर्त्तनी।। ३/३।।

दस्रा, युवाकवः, सुता, नासत्या, वृक्तबर्हिषः, आयातम्, रूद्रवर्त्तनी।

हे असंख्य लपटों को धारण करने वाली ! हे सहस्त्र शूलपाणि (दस्रा) उत्कर्ष

यौवन (युवाकवः) को जो कभी नष्ट नहीं होता अर्थात अमर (नासत्या = न + असत्या) है। ऐसे अमर यौवन को यज्ञों के द्वारा (वृक्तबर्हिषः) प्रदान करने वाली। हे माँ ! आवाहन (आयातम्) तुम्हारा ! प्रलय की ज्वाला (रूद्रवर्त्तनी) बन प्रकट हो! हम विशिष्ट आत्मा में सदा के लिये लय होना चाहते हैं। हम प्रलय (प्र = अमर। लय = व्याप्त होना) चाहते हैं।

हे जगतजननी ! हे सहस्त्र शूलपाणि ! हे ब्रह्मज्वाला ! आप ही सभी जीवों के शरीरों में यज्ञाग्नि बन सृष्टी, उत्पति, ह्रष्टि, पुष्टि, ऋद्धि, सिद्धि, समृद्धि तथा जीवन के बहुमूल्य क्षण प्रदान करने वाली हैं। आप ही महाप्रलय हैं। आप में ही सचराचर लय होता है। आप हमारे यज्ञ में पधारें। आपके बिना कोई भी यज्ञ पूर्ण हो ही नहीं सकता। इस यज्ञ की वेदी में यज्ञ की महाप्रलय बन प्रज्जवलित हों। हम आपका आवाहन वन्दन अर्चन करते हैं।

बालकों का सत्य से प्रथम परिचय हो रहा है। माता एवं पिता की देह में प्रज्जवलित यज्ञाग्नि से ही वे उत्पन्न होते हैं। उनके शरीर तो परम् पुनीत यज्ञशाला हैं। जहां परम्पिता आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित हैं तथा बलवान वायु देवता प्राणवायु के रूप में प्रतिष्ठित है। मां जगदम्बा स्वयं यज्ञ की ज्वाला हैं, जिनके गर्भ से ही वे एवं सचराचर प्रकट होता है। कैसे ?

इन्द्रायाहि चित्रभानो सुता इमे त्वायवः।
अण्वीभिस्तना पूतासः।। ३/४।।

इन्द्रः, आयाहि, चित्रभानो, सुता, इमे, त्वा, यवः, अण्वीभिस्तना पूतासः।

हे महाज्वाला (इन्द्रः) सूर्य (चित्रभानु, चित्रभानो) की पुत्री (सुता) धरती ने जब तेरा अवाहन किया। तुम प्रज्जवलित हुई। अणु अणु में भस्मी बन भटक रहे शरीरों को (अण्वीभिस्तना) पवित्र (पूतासः) कर यज्ञ में तुमने (त्वा) इस प्रकार (इमे) अन्न के बीजों (यवः) में उत्पन्न किया। हमारे भटकते शरीरों को वनस्पतियों में पवित्र किया। तुमने मां बन हमारा उद्धार भस्मी से अन्न में किया। हम वरद हुए।

वेद सुनाते मुझे मेरी कहानी ! एक ऐसी कथा, एक ऐसी कहानी जिसे अनन्त काल से जीता रहा हूँ मैं ! फिर भी अनभिज्ञ रहा जब तक वेद ने संकेत नहीं दिया ! एक युगान्तर कथा । जन जन की कहानी वेद की ऋचाओं की भाषा में !

जीवन के क्षणों को खोकर चिता की लकड़ियों पर भस्मी के अम्बार में सो गया था मैं । धीरे धीरे सब भूल गये मुझे, जो भरते थे दम मेरा होने का ! अनाथ जीवात्मा गति, गन्तव्य एवं अभिव्यक्ति से शून्य हो भटक रहा था। किसी को भी याद नहीं था मैं ! धरती माता से दयनीय यह दशा देखी न गयी ! माँ ने रोकर पुकारा सूरज को और कहा, " अनाथ है यह ! हर ओर से धिक्कारा हुआ ! जिया है एक अन्धे की सी जिन्दगी। जिनके लिये जीवन के क्षण जलाता रहा वे सब इसकी चिता जलाकर भूल गये हैं इसको। अब तू ही इसका उद्धार कर ! भेज ब्रह्मज्वालाओं को ! वे यज्ञ के द्वारा करें उद्धार इसका।"

उतरीं ब्रह्म अग्नियां धरा पर ! पानी में फूले हुए, खेत की मिट्टी में समाये बीजों में लपट उठी। यज्ञ की ज्वालायें धधक उठीं। पानी में आग लगी। धरती पर छितराये भस्मी के कण पवित्र हो, यज्ञ के द्वारा अन्न में लौटने लगे। मेरा उद्धार हुआ ! भस्मी से अन्न में लौटा मैं। न जाने कितनी बार ! बारम्बार ! मुझे पता ही न था कि किसकी कृपा लौटाती रही मुझको !

इन्द्रायाहि धियेषितो विप्रजूतः सुतावतः।
उप ब्रह्माणि वाघतः।।३/५।।

इन्द्रः, आयाहि, धियेषितो, विप्रजूतः सुतावतः, उप, ब्रह्माणि, वाघतः।

हे मां (इन्द्रः) तुम्हारा आवाहन (आयाहि) किया बुद्धिमान दम्पति (विप्रजूतः) ने उस अन्न को पुत्रवत धारण (सुतावतः) करने की इच्छा (धियेषितो = धाारण करने की इच्छा) लिये। अन्न पुनः भोजन के रूप में आ समाया व्याप्त (उप) हुआ। हे ब्रह्माणि (ब्रह्माणि) तुममें महाप्रलय हेतु (वाघतः। वा = अत्यधिक। घत = मारना।) व्याप्त हो गया।

हे ब्रह्मज्वाला ! हे यज्ञाग्नि ! तेरी ही प्रेरणा से एक बुद्धिमान, संस्कारवान दम्पत्ति ने मुझे अन्न के रूप में, भोजनवत धारण किया और पुत्र प्राप्ति की कामना से पुकारा तुझे ! मैं पुनः तेरी ही अग्नियों में प्रलय हेतु आ समाया। तेरे ही गर्भ से भस्मी से अन्न बना, पुनः यज्ञ हेतु तेरे ही गर्भ में आया। न जाने कितनी बार ! बारम्बार !

इन्द्रायाहि तूतुजान उप ब्रह्माणि हरिवः।

सुते दधिष्व नश्चनः।। ३/६।।

इन्द्रः, आयाहि, तू, तुजान, उप ब्रह्माणि, हरिवः, सुते दधिष्व, नः, चनः।

हे ब्रह्मज्वाला (ब्रह्माणि) तुममें व्याप्त (उप) एवं यज्ञ होकर, मिटकर (तू, तुज्, अन) हमारा उद्धार हुआ। हमारी प्रलय के उपरान्त तूने सृजन की मथानियों में हे ब्रह्माणि (ब्रह्माणि) मथकर (हरिवः) हमको (नः) जो अन्न (चनः) थे, उससे उद्धार कर, पुत्र (सुते) के रूप में, गर्भ के क्षीरसागर (दधिष्व) में प्रकट किया। हम अन्न से नवजात शिशु बन गर्भ के क्षीर सागर से प्रकट हुए।

तेरी ज्वालाओं में हमारी महाप्रलय हुई। गर्भ में तेरे; तेरी अग्नियों में समा कर पवित्र हुए हम। तूने हमें पुनः सृजन हेतु मथा हमें अपने ही गर्भ के क्षीरसागर में! हमारा उद्धार हुआ। अन्न से शिशु का रूप ग्रहण करते हम उत्पन्न हुए। असंख्य असंख्य बार ! फिर भी न जानी तेरी लीला, हमने। हम तो यही समझते रहे कि भौतिक लीला जगत के पात्र; माता और पिता ही जन्मते हैं बालक ? तेरी सुधि तो कभी भी किसी को न हुई। वे जो अपने ही तन के छोटे से अंग को बनाने में समर्थ नहीं हैं, वे ही तेरे स्थान पर सम्मान पाते रहे। हे ब्रह्माग्नि ! तेरी लीला के इस विलक्षण रहस्य को ऋषि, मनीषी एवं तापस ही पाये। इस गूढ़ रहस्य को पाना बुद्धि के लिये सहज भी तो नहीं है। तू ही भस्मी से अन्न में इस शरीर को लायी। तूने ही अन्न से शिशु रूप में इस तन को लौटाया। फिर ?

ओमासश्चर्षणीधृतो विश्वे देवास आ गत।

दाश्वांसो दाशुषः सुतम्।। ३/७।।

ओमासः, चर्षणी, धृतः, विश्वे, देवास, आगत, दा, श्वांसाः, दाशुषः, सुतम्।

जीवन को गतिमान (ओमासः) करने के लिये आत्मा (देवास) अमर (विश्वे) जीवन चक्र (चर्षणी) को धारण (धृतः) करने देह में प्रकट हुआ (आगत) यज्ञ कर (दाशुषः) तुममें प्रदान (दा) कीं सांसे (श्वांसाः) उस नवजात शिशु (सुतम्) को। जीवन की प्रथम सांस पाया वह।

हे ब्रह्मज्वाला ! हमारे उन नवजात शरीरों में जीवन यज्ञ को गतिमान करने के लिये परमात्मा का लीलावतार बन आत्मा प्रकट हुआ। तुम्हीं में यज्ञ कर सांसो को गतिमान किया। नवजात शिशु को यज्ञ के द्वारा सांसों का वरदान मिला। यदि तुम न होतीं तो शिशु सांसें न पाता। जन्मते ही मर जाता। कोई भौतिक माता पिता तेरी कृपा के बिना सांसें प्रदान करने में सक्षम नहीं है।

विश्वे देवासो अप्तुरः सुतमांगत तूर्णयाः।
उस्त्रा इव स्वसराणि।। ३/८।।

विश्वे, देवासो, अप्तूरः, सुतमः, आगत, तूर्णयाः, उस्त्रा, इव स्वसराणि।

अमर (विश्वे) देवता (देवासो) आत्मा ने शीघ्रता पूर्वक (अप्तुरः) नवजात शिशु में (सुतमः) आकर तुम्हारा (आगत) यज्ञ में आवाहन किया। तुम यज्ञ की ज्वाला बन धधक उठीं (तूर्णयाः)। सूर्य (उस्त्रा) की भांति (इव) कण्ठ से आत्मा सूर्य की कृपा के स्वर (स्वसराणि) प्रस्फुटित होने लगे। नवजात शिशु का प्रथम रूदन था।

हे ब्रह्माग्नि ! अमर आत्मा ने तत्परता से शिशु की देह में तुम्हारा आवाहन किया, तुम यज्ञ की ज्वाला बन धधक उठीं। जिस प्रकार ब्रह्ममुहुर्त में सूर्य के उगते ही चहुं ओर प्रकाश फैलने लगता है, उसी प्रकार तुम्हारे जागृत होते ही नवजात शिशु की देह के पुर् एवं ब्रह्माण्ड आलोकित हो उठे। जैसे प्रातः काल में पक्षी कलरव करते हैं, उसी प्रकार नवजात के कण्ठ से कलरव नाद प्रकट हुआ। वह रोया। जीवन का प्रथम रूदन ! प्रथम कलरव !

विश्वे देवासो अस्त्रिध एहिमायासो अद्रुहः।
मेधं जुषन्त वह्नयः।।३/६।।

विश्वे, देवासो, अस्त्रिध, एहि, मायासो, अद्रुहः, मेधम्, जुषन्त वह्नयः।

अमर आत्मा (विश्वे देवासो) ने नवजात शिशु को पुष्ट करने हेतु तुममें यज्ञ के द्वारा रक्त, मांस, मज्जा से (अस्त्रिध) देह को पुष्ट करने लगा जिससे भौतिक (एहि) माया से (मायासो) उसका शरीर अभेद (अद्रुहः) रहे। माया उसके शरीर का विनाश

न कर सके। हे अग्नि ! (वहयः = वहन्यः) तुममें ही यज्ञ कर अमर आत्मा ने उसे विवेक बुद्धि (मेधम्) प्रदान की। क्यों ? वेद के ज्ञान (जुषन्त) के लिये, आत्मा से अद्धैत कर अमरत्व के अभीष्ट लक्ष्य को पाने के लिये।

हे आत्माग्नि ! अमर आत्मा, नवजात की देह में (जल, माता का दूध अथवा आहार जो भी शिशु भोजन में ग्रहण कर रहा था) यज्ञ के द्वारा उसके शरीर को पुष्ट करने लगा। भौतिक मायाओं के संघर्ष में उसे वज्रदेह में ढालने लगा। तुमनें ही यज्ञ के द्वारा उसे विवेक बुद्धि से वरद किया जिससे वह मानव होने के सार्थक ज्ञान को धारण कर मनुष्य योनि को वरद करता मात्र अभीष्ट को प्राप्त हो। उसका जीवन सबके लिये अमृत तुल्य हो।

पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती।
यज्ञं वष्ठु धियावसु।। ३/१०।।

पावका, नः, सरस्वती, वाजेभिः, वाजिनीवती, यज्ञम्, वष्ठु, धिया, वसु।

यज्ञ की अग्नि (पावका) बनकर हे मॉ ! हमारी (नः) सरस्वती (सरस्वती) यज्ञों (वाजेभिः) के द्वारा हमारा नित्य निरन्तर बाजीकरण (वाजिनीवती) अर्थात पुष्टता प्रदान करने वाली आप ही हैं। हे मॉ ! एक प्रार्थना है हमारी ! एक यज्ञ (यज्ञम्) करो पुनर्परिवर्तन (वष्ठु) का ! जिससे हम बने अग्नियों को धारण करने वाले। लपटों में नृत्य हों हमारे।

हे आत्माग्नि ! हे यज्ञ की ज्वाला ! आप ही निरन्तर बाजीकरण करती रहीं हमारा। भस्मी से यज्ञ के द्वारा बाजीकरण कर आप हमें अन्न में लायीं। अन्न को पुनः परावर्तन अर्थात अन्न को भस्म कर शिशु के रूप में आपने हमें प्रकट किया। आप ही हमें बाजीकरण द्वारा पुष्ट करती रही हैं। भस्मी का तन जो पानी में आते ही घुल जाता था, आज जल में किल्लोल कर आनन्दित होता हैं। हे मॉ ! एक बार फिर इस दर्श यज्ञ में हमें परावर्तन के लिये ग्रहण कर हमारा उद्धार करो। हमें वह रूप, वह जन्म, प्रदान करो कि हम भी बन अग्नि, बन ज्वाला, लपटों में जल की भांति ही किल्लोल करें। वह नया रूप और जन्म चाहते हैं हम।

क्या ऐसी भी कल्पना मानव की हो सकती है ? हमनें तो खाली बाहर वाले यज्ञ

ही जाने सुने तथा श्रद्धापूर्वक करते रहे थे। यज्ञ का यह स्वरूप तो बिल्कुल अनजाना है। यज्ञ के द्वारा उत्पत्ति का यह रहस्य जितना विलक्षण है उतना ही मन को छूने वाला भी है। मेरे सारे समीकरण मुझमें ही समाये हैं और मैं जानता भी न था। मेरे रहस्य मुझमें इतने समीप थे और मैं उन्हें दूर दराज आसमानों में खोजता था। कस्तूरी कुण्डली बसे। मृग ढूंडे बन माहीं।

चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम्।
यज्ञं दधे सरस्वती।। ३/११।।

चोदयित्री, सूनृतानाम्, चेतन्ती, सुमतीनाम्, यज्ञम्, दधे, सरस्वती।

तीनों लोकों को प्रकाशित (चोदयित्री) करने वाली, सचराचर को चेतना (चेतन्ती) एवं सुमति (सुमतीनाम्) से वरद एवं चैतन्य करने वाली हे महाज्वाला ! हे सरस्वती (सरस्वती) हमें धारण (दधे) कराओ यज्ञ (यज्ञम्) की सामर्थ्य ! यज्ञ के द्वारा उत्पत्ति के रहस्य एवं यज्ञ के द्वारा उत्पत्ति की सामर्थ्य !

कोई भौतिक उपलब्धियां मांगता है, कोई सन्तान धन की मांग करता है। वेद के छात्रों ने सृष्टी के रहस्यों को जानने और स्वयं सृष्टी कर सकने की सामर्थ्य को पाना चाहा है। शिक्षा के इस स्तर की कल्पना फिर कोई क्यों न कर सका ? जीवन के गूढ़ रहस्यों को कुरेदती शिक्षा प्रणाली !

तीनो लोकों को प्रकाश एवं सुमती प्रदान करने वाली, सचराचर का निरन्तर निर्माण एवं उत्पत्ति करने वाली महाशक्ति से ज्ञान का वरदान भी चाहा है तो ऐसा! मां से उसके पुत्रों ने उसी की राह चलने, उसके अनुरूप ढलने तथा पुत्र कहलाने की सार्थकता चाही है। बेटा वही, जो माता पिता के नक्शे कदम चले। राजा का पुत्र होकर दर दर भीख मांगेगा तो पिता का अपमान ही तो करेगा। माता की कोख लज्जित करेगा। आत्मा का पुत्र हूँ। ब्रह्मज्वाला मेरी मां है। मुझे भी उनके ही सदृश्य होना चाहिये। कुछ ऐसी ही तड़प छिपी है इन वेद की ऋचाओं में। धन, सम्मान, विषयासक्ति, ऐश्वर्य अथवा कोई भी उपलब्धि नहीं चाहते हैं। अपने होने की सिद्धि भर चाहते हैं। जिससे हमारे जनक हम पर गर्व कर सकें।

महो अर्णः सरस्वती प्रचेतयति केतुना।

धियो विश्वा वि राजति।। ३/१२।।

महो, अर्णः, सरस्वती, प्रचेतयति, केतुना, धियो, विश्वा, विराजति।

हे महान (महो) अंतरिक्ष दीप्ती (अर्ण) हे सरस्वती (सरस्वती) ग्रहों एवं नक्षत्रों को (केतुना) ज्योतिर्मय बना गगन में प्रतिष्ठित करने (प्रचेतयति) वाली आदि शक्ति हे माँ हमें भी धारण कराओं (धियो) ऐसी ही अमर (विश्वा) ज्योतियां, तथा हों हम प्रतिष्ठित गगन में (विराजति) ग्रहों नक्षत्रों के सदृश्य !

हे अन्तरिक्ष की यज्ञ दीप्ती ! हे ब्रह्मज्वाला ! ग्रहों, नक्षत्रों, सूर्यों एवं आकाशगंगाओं को उत्पन्न कर गगन में ज्योतिर्मय बनाकर नित्य प्रतिष्ठित करने वाली ! माँ ! हमारा भी उद्धार करो। हमें अपनी ज्योतियों के गर्भ से पुनः यज्ञ द्वारा नये जन्म में प्रकट करो कि हम भी बन ज्योति, बन ज्वाला, गगन के एक छोर से दूसरे छोर तक बन ज्वाला, बन प्रलयंकर नृत्य करें। गगन की ज्योति बने।

जिस शिक्षा का आरम्भ यह है। उसका समापन क्या होगा ? जीवन की पहेली को शिक्षा का सूत्र बनाकर आगामी पीढ़ियों को जीवन के गहन सूत्रों से बान्धकर चलने वाली संस्कृति तथा वे लोग ! जाने कहां खो गये ! अब तो उस राह पर किसी के कदमों की आहट भी नहीं सुनाई देती। मुझे सम्पूर्ण सचराचर, मिलकर आत्मा सहित बनाता है ? अब कौन मानेगा ! मैं इन सबके लिये उत्तरदायी हूं, इन सबके लिये जीता हूँ, यदि भूल से भी कहे कोई तो सब उसे पागल कहेंगे। यहां तक उसके माता पिता भी ! क्या सचमुच हम समय के साथ सभ्य एवं सुसंस्कृत हुए हैं।

बालकों ने यज्ञ के तीसरे रहस्य को गुरूदेव से पाया है। देह में प्रज्जवलित ब्रह्मज्वाला ही यज्ञ की ज्वाला है। यज्ञ इन ब्रह्माग्नियों में ही सम्भव है। उत्पत्ति केवल इनके द्वारा ही होती है। अभी तक वे लोगों को यज्ञ करते देखते थे तो उसी वाहय यज्ञ को ही मूल यज्ञ के रूप में जानते थे। परन्तु यहां पर तो रहस्य कुछ और ही है। आत्मा ही यज्ञ का अधिष्ठित देव एवं आचार्य है। प्राणवायु यज्ञ का उपाचार्य है। ब्रह्मज्वाला ही यज्ञ की अग्नि है। फिर यह वाहय यज्ञ क्या हैं ? क्यों हैं ? इनसे क्या प्राप्त होता है ? लोग इन्हें नित्य श्रद्धा एवं आस्था पूर्वक क्यों करते हैं ? असंख्यों प्रश्न उनके भोले मानस पर उतर आये हैं। सच तो यह भी है कि हम भी इन प्रश्नों से घिर गये हैं। हम भी इस रहस्य को जानना चाहते

हैं। हमें निश्चय ही इसके समुचित उत्तर मिलेंगे। हमें भी बालकों के साथ उचित समय की प्रतीक्षा करनी होगी।

बालकों ने जब इनके उत्तर आचार्यों से तथा माताओं से जानना चाहा तो सबके मुख पर एक रहस्यमयी मुस्कराहट खेल गयी। सबने समय की प्रतीक्षा करने को कहा। अभिभावकों ने भी मुस्करा कर मौन धारण कर लिया। बस इतना ही कहा कि उन्हें सारे उत्तर गुरूदेव के श्रीमुख से यथा समय प्राप्त होंगे। बाद उसे विस्तारपूर्वक आचार्य अथवा वे सब बता सकेंगे। यह गुरूकुल की मर्यादा है।

अभी हम ऋचाओं का स्पर्श भर ही ले रहे हैं। इन सूत्रात्मक ऋचाओं में बहुत कुछ ऐसा है जिसे हम छू भी नहीं पाये हैं। इस शिक्षा में एक बात निर्विवाद रूप से स्पष्ट हो रही है। शिक्षा मात्र पेट की रोटी, सुविधा, और विषयासक्त दम्भी और अन्धी जिन्दगी का साधन भर नहीं है। उसमें स्वयं को जानने, पाने की तड़प के साथ आकाशजयी कल्पनायें भी व्यापक हैं।

मृत्यु जीवन की सीमा कदापि नहीं हो सकती। प्रकृति मनुष्य को मरने भर के लिये कदापि नहीं बनाती। यदि ऐसा ही है तो यह निरी मूर्खता पूर्ण व्यर्थ की प्रक्रिया है। नितान्त अर्थहीन और सारहीन। जन्म का अन्त यदि मृत्यु ही है तो जन्भ का प्रयोजन व्यर्थ ही है। यदि इससे हटकर किसी और बड़ी नित्य उपलब्धि की कल्पना भी प्रकृति में है तो निश्चय ही इस प्रक्रिया का व्यापक, विशेष एवं अति विशिष्ट कारण हो सकता है।

गुरूदेव वेद की आरम्भिक धाराओं में जीवन को उन्हीं पुनीत उद्धेश्यों की ओर ले जा रहे हैं। कुछ ऐसा भी है, जिसके लिये विधाता और सचराचर, दोनो मिलकर मनुष्य को बनाते हैं। जब उनके बनाये खिलौने (मानव) समय की सीमा में मंज़िल तक नहीं पंहुच पाते हैं तो मृत्यु द्वारा बीच में ही नष्ट कर दिये जाते हैं।

वह मंज़िल क्या है ? उस तक कैसे पंहुचना है ? किस समय सीमा के भीतर पहुचना है ? गुरूकुल शिक्षा उसे ही लक्ष्य मानकर सृजित की गयी है। पेट तो कुत्ता भी भर लेता है। उसके पिल्लों को स्कूल पढ़ने नहीं जाना होता। फिर भी घर गृहस्थी कर ही लेते हैं। मानव पूत इतने नाजुक तो नहीं हो सकते कि पेट की रोटी और घर गृहस्थी मात्र के लिये जीवन के बहुमूल्य १५ से २० वर्ष बरबाद कर दें ? बाकी बचता ही क्या है ?

साकल्य, सामग्री और समिधायें !

बालक अगले सूक्त के अमृत ज्ञान के लिये गुरूदेव के सम्मुख हैं। पिछले तीन सूक्त उन्होंने आचार्यो, माताओं तथा अभिभावकों के सहयोग से कण्ठस्थ करने के साथ ही भाव सहित अपनी आत्मा में समेट लिये हैं। उनके दृष्टिकोण में भी स्पष्ट परिवर्तन दिखने लगा है। वे आकाश की अनुपम धरोहर हैं, धरा पर ! उनकी जड़ें दूर आकाशगंगाओं में हैं। वे एक निम्न स्तर का आसक्त जीवन भर जी लेने के बाद मृत्यु के भोजन के लिये बनाये गये हैं; ऐसा वे कदापि नहीं मानते। उन्हें मृत्युञ्जय होना है। वे अमर से उत्पन्न हैं। उन्हें आकाशगंगाओं में नित्य वास करना है। अपने खोये अधिकार लौटाने हैं। कायर कापुरूष का विषयासक्त जीवन उन्हें कदापि स्वीकार नहीं। वे वीरता से लक्ष्य के हित में ही जियेंगे।

कैसे कहूँ उनके आज के वंशज सिर्फ रोटी, कपड़ा और मकान के लिये ही जीते हैं। उसे बड़ी मेहनत और मशक्कत से जोड़ते हैं। फिर एक दिन पता नहीं क्यों, मूड में आकर मर जाते हैं। सब कुछ धरा का धरा रह जाता है। अरे भाई जब मरना ही था तो यह सब बटोरने में इतने तबाह होकर क्यों जिये ? ये भी स्पष्ट नहीं कर पाते हैं। आयें गुरूदेव अगला सूक्त स्पष्ट करने जा रहे हैं।

सुरूपकृत्नुमूतये सुदुघामिव गोदुहे।
जुहूमसि द्यविद्यवि।। ४/१।।

सुरूप, कृत्नु, मूतये, सु . दुघाम्, इव, गोदुहे, जुहूम्, असि, द्यवि, द्यवि।

हे सम्पूर्ण सगुण (सुरूप) सचराचर को प्रकट करने वाले कलाकार (कृत्नु) तथा आत्मा के रूप में अपनी बनायी प्रत्येक कृति में बन्ध जाने वाले (मूतये) दिव्य (सु) दुधारी गौओं की (दुघाम) भांति (इव) सचराचर का गौ दोहन करने वाले (गोदुहे) स्रुवा (जुहूम्) लिये हाथ में (असि) तुम्हारी उस कांतिमयी, ज्योतिर्मयी छवि का हम

घटघट क्षण क्षण (द्यवि द्यवि) चिन्तन करते हैं।

मन सामिग्री है, जीवन के क्षण एवं विचार घृत हैं। तन समिधा है। ब्रह्मज्वाला, आत्मा रूपी अग्नि ही यज्ञ की ज्वाला है। जीवरूप हम सब यजमान हैं। आत्मा यज्ञ का आचार्य है। प्राणवायु उपाचार्य है। आत्मा से अद्वैत होना जीवन का लक्ष्य है। जीवन का समीकरण बस इतना ही तो है। मेरा आत्मा ही श्रीकृष्ण है। इस ऋचा में मधुच्छन्दा ऋषि, जो वेद के प्रथम ऋषि हैं बालकों को ऐसा ही बता रहे हैं।

हे श्रीकृष्ण ! हे ग्वाले ! सम्पूर्ण सगुण सचराचर को आत्मा होकर प्रकट करने वाले ! दुधारी गौओं की भांति आत्मा के रूप में सचराचर के भोजन प्रसाद रूपी दुग्ध का पान करने वाले, हे अदभुत ग्वाले ! स्त्रुवा लिये हाथ में तुम्हारी अर्धचन्द्राकर भालचन्द्र छवि, आत्म ज्वालाओं में निरन्तर आहुतियां प्रदान करती, यज्ञ से अमृत जीवन क्षण प्रकट करती, ऐसी मनोहारी छवि का हम घट घट क्षण क्षण चिन्तन करने लगे हैं।

यज्ञ निरन्तर हो रहा हममें और हमें पता न था। आत्मा भोज्य सामिग्री (भोजन आदि) को निरन्तर आत्मज्वालाओं में आहुति देता हमें निरन्तर जीवन के क्षण, ऊर्जा, रक्त, शक्ति और सामर्थ्य प्रदान करता है। आश्चर्य कि हमने कभी जाना ही नहीं। जानना और समझना चाहा ही नहीं। मनुष्य होकर भी यदि स्वयं को सूक्ष्मता से नहीं पढ़ पाये, तो कब किस योनि में कैसे जानेंगे स्वयं को ? शिक्षा में इन्हें स्थान देना तो दूर, इनकी भनक जीवन को बुढ़ापे तक को न लेने दी। कहीं बेचारा बुढ़ापा बहक न जाये ? आधुनिक विज्ञान जीवन पहेली का हल 'कोश' में खोज रहा है। जीवन आत्मा से है, यज्ञ से है, उसे किसी ने समीकरण बताया ही नहीं था। कोशों के यथा रहते हुये भी वह मर जाता है। कौन ? कैसे ? मरकर आवागमन को जाता है और फिर लौटकर जन्म लेता है, कौन ? आप उसे जीवन कहेंगे। अथवा उस जीवन्त घर (शरीर) को जिसमें वह आकर बसता है ?

यह सूक्त कुछ काव्यमय होता चलेगा। एक कल्पना के साथ ही हम इसे ग्रहण कर पावेंगे। वेद के ऋषि मधुच्छन्दा तथा उनके उपरान्त प्रथम मण्डल के दूसरे ऋषि मेधातिथि कण्व भी श्रीकृष्ण को अपना आराध्य मानकर ही ऋचाओं का सूत्रपात करते हैं। श्रीकृष्ण को वे घटघट वासी आत्मा एवं यज्ञ के अधिष्ठित देव के रूप में ही भजते हैं। महाभारत महाकाव्य में मेधातिथि कण्व ऋषि युद्ध के पूर्व

दुर्योधन को समझाने के लिये उसके पास जाते हैं तथा उसे संधि की सलाह देते हुए बताते हैं कि श्रीकृष्ण नारायण हैं तथा अर्जुन नर का अवतार हैं।

महर्षि वेदव्यास और श्रीकृष्ण स्वयं मधुच्छन्दा से वेद का संकलन कराने गये थे। मधुच्छन्दा ने जागेश्वर में उत्तरायणी गंगा के तट पर श्रीकृष्ण को आराध्य के रूप में सम्मुख बिठाकर वर्तमान दस सूक्त सुनाते हुए ब्रह्मज्योतियों का वरण कर धरती से गमन किया था। उनके शेष पार्थिव को श्रीकृष्ण ने स्वयं समाधिस्थ किया था। उस युग की परम्परा के अनुसार उन्होंने ही उनकी समाधि पर शिवलिंग की स्थापना की थी। उस समय यह स्थान प्रवेश करते ही बायें हाथ की ओर तीसरा शिवलिंग था। सम्भवतः अब भी वही ही हो। ग्यारहवां सूक्त पचास ऋषियों ने गाया था। वे सब महामुनि विश्वामित्र के पुत्रों के रूप में जाने जाते थे। जिन्होने मधुच्छन्दा को अपना अग्रज माना था तथा वे जेता माधुच्छन्दस कहलाते थे। गुरूकुल ने इन्हीं ग्यारह सूक्तों को यज्ञोपवीत संस्कार की पूर्णता के रूप में ग्रहण किया। मेधातिथि के आश्रम में छात्र मेधातिथि कण्व के १२ सूक्त के साथ यज्ञोपवीत संस्कार की पूर्णता ग्रहण करते थे। गुरूकुल शिक्षा के सूत्रों में श्रीकृष्ण की चर्चा व्यापक रूप से मिलती है।

वर्तमान सूक्त का अमृत रहस्य पाने के लिये हमें इस चित्र को सामने रखना होगा। मधुच्छन्दा श्रीकृष्ण को सम्मुख रखकर उन्हें ही सम्बोधित करके सूक्त का गान कर रहे हैं। पूर्व की ऋचा में उन्होंने परोक्ष रूप में श्रीकृष्ण की ऊखल बन्धन लीला का सहारा लिया है। शरीर रूपी ऊखल में आत्मा श्रीकृष्ण सर्वत्र बन्धे हैं। यहां सबको यशस्वी बनाने वाली प्रकृति ही यशोदा मैय्या है। वसु कहते हैं अग्नि को, वसुदेव अर्थात परमेश्वर को ही वसुदेव तथा ब्रह्मज्वाला को ही देवकी के रूप में दर्शाया गया है। इन्हीं भावों को सम्मुख रखकर मधुच्छन्दा जीवन रहस्यों से परदा हटा रहे हैं। आत्मा यहां श्रीकृष्ण है तथा जीव को अर्जुन के रूप में दिखाया गया है। जीव और आत्मा ही नर और नारायण की जोड़ी, सर्वत्र है। दूसरी ओर जीव ही गोपी है तथा आत्मा श्रीकृष्ण ही गोविन्द हैं। ऋचा में प्रवेश करें।

उप नः सवनागहि सोमस्य सोमपाः पिब।

गोदा इद्रेवतो मदः।। ४/२।।

उप, नः, सवन्, आगहि, सोमस्य (सोम्+अस्य), सोमपाः (सोम्+अपाः), पिब, गोदा, इद्, रेवतो, मदः।

व्याप्त (उप) हो गये हम (नः) अर्पण से पूर्व के स्नान (सवन्) हेतु आकर (आगहि) ऐसे (अस्य) ज्योतिर्मय (सोम) के लिये आचमन (पिब) लेते हैं ज्योतिर्मय (सोम्) जल (अपाः) का मद (मदः) है सूरज (गोदा) से भी बड़ा, मन धरती सा (इद्) भांवरे (रेवतो) लिये जाये है।

पूर्व की ऋचा सहित स्पष्ट करें। हे सगुण साकार को प्रकट करने वाले कलाकार! आत्मा के रूप में अपने ही बनाये खिलौनो में स्वयं बन्धने वाले ! स्त्रुवा (आहुति देने वाला लकड़ी का चमचा) लिये हाथ में निरन्तर ब्रह्मज्वालाओं में आहुति देती तेरी छवि का मैं घटघट क्षण क्षण चिन्तन करने लगा हूँ। हर ओर यज्ञ कर रही तेरी छवि का अपने भीतर भी दर्शन पाया जब तो तुझमें अर्पित होने की तड़प जाग उठी है। हे आत्मा तू गोविन्द (गो = ज्योति। ज्योतियों को उत्पन्न करने वाला) जीव मात्र हम सब गोपी (ज्योतियों का पान करने वाली। गो + पी) हैं। तुम्हें पाना ही तो गोपी के जीवन का परम लक्ष्य है। आज तुझे हम जीव रूपी गोपियां सर्वत्र पाने लगीं हैं। देह के भीतर भी यज्ञ करती तेरी मनोहारी छवि का दर्शन मिला है। मन में तुझे पाने की, तेरे संग भांवरे लेकर सदा के लिये तेरी हो जाने की तड़प जाग उठी है।

इसलिये आज इस देह रूपी महल में हम जीव रूपी गोपियां सवन ले रही हैं। (सवन स्नान उसे कहते हैं जब विवाह से पूर्व नववधु वर के स्नान जल से नहलायी जाती है। उसी जल का वधु आचमन लेती है। उसके उपरान्त ही भांवरों के लिये विवाह मण्डप में लाया जाती है। सामिग्री को यज्ञ के पूर्व पवित्र करने की प्रक्रिया को भी सवन स्नान कहते हैं। मृत देह को चिता पर लिटाने से पहले पवित्र स्नान कराते हैं। उसे भी सवन स्नान कहते हैं। इसके अतिरिक्त नवजात शिशु को पवित्र करने के प्रथम स्नान को भी सवन स्नान कहते है।) ज्योतिर्मय है प्रियतम हमारा। ज्योतियों में नहाता है सदा। ज्योति ही स्नान जल है उसका। आज उसी जल का सवन है। उसी जल का आचमन है। उसके जल में नहाती गोपियों के मन आज भंवर भंवर झूमे जाते हैं। मिलन का नशा है सूरज भर चढ़ा है। पृथ्वी भर मद है। मन पृथ्वी भांति मदमस्त पिया की परिक्रमा में झूम रहा है।

सोम का अर्थ कुछ आधुनिक भाष्यकारों ने विचित्र सा लिया है। सोमरस को वे मद्यपान के रूप में ले बैठे। यह नितान्त भ्रम है। सोम कहते हैं चन्द्रमा को। सोमवार भी चन्द्रमा के दिन के रूप में जाना जाता है। चन्द्रमा की स्निग्ध किरणों

को सोमरस कहा गया है। देवता अर्थात आत्मा का भोजन ज्योति है। इसलिये देव अर्थात आत्मायें, ज्योति अर्थात सोम का पान करती हैं। आत्मा कभी शराब नहीं पीती। आत्मयज्ञ की अग्नियों को ही सर्वत्र सोम के रूप में गाया गया है।

अथा ते अन्तमानां विद्याम सुमतिनाम्।

मा नो अतिख्य आगहि।। ४/३।।

अथा, ते, अन्, तमानाम्, विद्याम, सुमतिनाम्, मा, नो, अतिख्य, आगहि।

आरम्भ में ही (अथाते) उबटन से, अन्न और हल्दी (अन् तमानाम्) के मांजा था, मांजती रही थीं। विद्या (विद्याम्) का अन्न था और सुमति (सुमतिनाम्) की हल्दी थी। मन को हटाती (मा) नकारती रहीं सम्मान और ख्याति (अति + ख्या = ख्या + अति। वेद में संधियां उल्टी भी लगती है।) से दूर करती रहीं। इसीलिये तो आज तुम तक आ पायीं हैं।

हे आत्मा गोविन्द ! विद्या और सुमति के उबटन से हम मांजती रही थी स्वयं को दुलहिन की तरह तथा भौतिक यशगान और तथाकथित सम्मान से विनम्रतापूर्वक अलग हटती रहीं, तभी तो आज देह के महल में प्रवेश कर पायीं। भांवरों की कल्पना सजी।

सनातन धर्म में विवाह की मूल कल्पना भी इन्हीं ऋचाओं से मर्यादित है। आत्मा को पाने के लिये, भीतर प्रवेश के लिये, जीवन के मूल लक्ष्य की प्राप्ति के लिये वाहय जगत को निमित्त अनासक्त भाव से लेते हुए ही आत्मा में पूर्ण आसक्ति प्राप्त कर, लक्ष्य को पाया जा सकता है। हे गोविन्द वे ही आपको पायेंगे जो वाहय जगत से विरक्त हो सकेंगे। उन्हें ही आत्मा की शरणागति भक्ति प्राप्त होगी। वे ही वेद की इन ऋचाओं को सार्थक कर पावेंगे।

परेहि विग्रमस्तृतमिन्द्रं पृच्छा विपश्चितम्।

यस्ते सखिभ्य आ वरम्।। ४/४।।

परेहि, विग्रम्, स्थः, ऋतम्, इन्द्रम्, पृच्छा, विपश्चितम्, यस्ते, सखिभ्य, आ, वरम्।

दूर हटाते हुए (परेहि) स्वयं को, संसार के विषय रूपी विष से मुक्त (विग्रम। वि विगत। ग्रम = विष) करते हुये, आत्मा (ऋतम्) की महान ज्योतियों (इन्द्रम्) में स्थित (स्थ) होते हुए। अतीत (पृच्छा) को न देखते हुए (विपश्चितम्) इससे (यस्ते) इस कारण से हे सखा हे मित्र (सखिभ्य) जीव रूपी गोपियां आप का वरण करने (वरम्) आ (आ) पायी हैं।

असत्य, अज्ञान, इच्छा, लिप्सा से दूर हटते हुए; इन्द्रियों के विषयों से स्वयं को मुक्त करते हुए आत्मा में नित्य स्थित, अतीत को नकारते हुए ही जीव गोपी, विश्व सखा आत्मा का वरण करने में होती है समर्थ। हे आत्मा हे कृष्ण । यूंही पाती रही हैं जीव रूपी गोपियां तुम्हें। तू ही जीवमात्र का उद्धार है। तू ही जीव मात्र की मंजिल है। जिसने मन को घृत बनाया, विचार जिसके सामिग्री बने, तन को समिधा बना जो अर्पित हुआ आत्मा को अपनी, मात्र उसी ने जाने रहस्य यज्ञ के। सुलझा कर जीवन की पहेली, बन आत्मा का सखा, हुआ अमर।

उत ब्रुवन्तु नो निदो निरयन्तश्चिदारत।
दधाना इन्द्र इद्दुवः।। ४/५।।

उत, ब्रुवन्तु, नो, निदो, निरयन्तः, चिदारत, दधाना, इन्द्र, इद्दुवः।

संशय (उत) बनावट दिखावा (ब्रुवन्तु) असत्य, अज्ञान, निन्दा (निदो) को अर्न्तमन से नकार (निरयन्तः) कर हमें (नो) हमको धारण करना (दधाना) है महान आत्मा (इन्द्र) के यज्ञ को और अर्पित होंगे हम समिधा (इद्दुवः) सांकल्य की भांति।

संशय को मिटाकर, दिखावे से मुक्त होकर, अज्ञान और निन्दा से दूर हटते हुए ही मन को यज्ञ में स्थापित कर सकते हैं। वे ही धारण करते हैं आत्मा का अमर यज्ञ। सांकल्य एवं समिधा से आत्मज्वाला में यज्ञ हो पाते जीवन के रहस्य समीकरण एवं नित्य अवस्था।

उत नः सुभगाँ अरिवोचेयुर्दस्म कृष्टयः। स्यामेदिन्द्रस्य शर्मणि।। ४/६।।

उत, नः, सुभगाम्, अरि, वोचेयुः, दस्म, कृष्टयः, स्या, मेद, इन्द्रस्य, शर्मणि।

संशय (उत) भौतिक भटकाव रूपी शत्रुओं (अरि) को आत्मा रूपी सूर्य (वोचेयु) की अग्नियों में करके भस्म (दस्म) आकृष्ट (कृष्टयः) हुए जो आत्मज्वालाओं में। ऐसी (स्या) बुद्धि (मेद) के स्वामी ही आत्म अग्नियों (इन्द्रस्य) से होते हैं परमानन्दित (शर्मणि)।

वाहय भटकावों को आत्मा में भस्म करते, संशयों को मिटाकर जो होते आत्मयज्ञ में आसक्त, एकीभाव में स्थित, पाते आत्मा का नित्य सुख एवं आनन्द।

जीवन पहेली के उलझे समीकरण का हल खोजते अतीत के वैज्ञानिक ऋषि अपने ही भीतर की गहराईयों को झांकते, बस अविश्वसनीय रूप से आश्चर्यचकित करने वाला है। आधुनिक युग इस दिशा की कल्पना भी नहीं कर पाते। हम तो माता पिता से ही संतानोत्पत्ति की कल्पना ही नहीं सबकुछ उन्हें ही अन्तिम सत्य मानकर चलते हैं। इससे आगे सत्य कहीं और है, ऐसी कल्पना भी नहीं होती।

जबकि वर्तमान कल्पना में सत्य का केन्द्र बिन्दु आत्मा पर आकर स्थित हो गया है। माता पिता सांचों की भांति हैं। आत्मा ही कलाकार है। आत्मज्वाला में प्रकृति को ढालकर यज्ञ करके सांचो के अनुरूप नवजात रूप प्रदान करता है। प्राणवायु प्राणों का रस घोलता है। जैसा सांचा तैसा रूप ! एक ही माल मसाले से चिड़िया का बच्चा, उसी से मानव पुत्र, तो उसी से कुत्ते का पिल्ला और गधा भी। एक ही कलाकार है। घटघट वासी है। सर्वत्र वही खेल रहा जीवन के समीकरण से। पांचो तत्व; क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर । बस यही हैं उसके मसाले। ढालता चलता है असंख्यों खिलौने निशि दिन ! निरन्तर !

आधुनिक विज्ञान खोज रहा उत्तर 'कोश' में तो कभी क्लोनिंग में।

एमाशुमाशवे भर यज्ञश्रियं नृमादनम्।
पतयन्मंदयत्सखम्।। ४/७।।

एम् (अम्) आशुम्, आशवे, भर, यज्ञ, श्रियम्, नृ, मादनम्, पतयन्, मन्दयत्, सखम्।

कच्चे (अम) चावल (आशुम) के आसव (आशवे) से बने (इस शरीर को) व्याप्त (भर) करके यज्ञ (यज्ञ) की ऐश्वर्य (श्रियं) मयी ब्रह्मज्वालाओं (नृ) में परमानन्दित (मादनम्) हों हम जो अन्यथा पतनोन्मुख (पतयन्) एवं विनाशमुखी (मन्दयत्) हैं। मिले सचराचर के मित्र (सखम्) सखा से अर्थात आत्मा श्रीकृष्ण से।

कच्चे चावल का आसव आनन्दित करता तामस को। कच्चे चावल का पका भोजन आनन्दित करता राजस को। कच्चे चावल से बनी हवन सामिग्री परमानन्दित करती सात्विक को। कच्चे चावल से बने हमारे शरीरों को सामिग्रीवत हमारी ब्रह्मज्वालाओं में यज्ञ करके ज्योतिर्मय सोम रूपी आसव में ढाल दे। हे आत्मा ! हे यज्ञ के आचार्य ! हे पतितपावन ! हे दीनबन्धु ! हमें आत्म अग्नियों में ही उद्धार करो। हम चिताग्नि की पतन की दीन अवस्था में नहीं भटकना चाहते हैं। हमारे शरीर सामिग्री बन आत्मा में ही यज्ञ होकर सोम आसव बन जायें। यही हम सब जीव रूपी यजमान आपसे प्रार्थना करते हैं।

तन सामिग्री है। आत्मा यज्ञ का आचार्य है। प्राणवायु उपाचार्य है। जीव यजमान है। यज्ञ आत्मा की अग्नियों में होना है। यज्ञ जीव के हित में शरीर सामिग्री का होना है। विचित्र से समीकरण हैं।

वेद की इस कल्पना को सहज ही नकारा भी नहीं जा सकता। जीवन पहेली को आप खोजने के लिये कहां जाना चाहेंगे ? कहां से अपनी खोज का प्रारम्भ करना चाहेंगे ? जहां जीवन उत्पन्न हो रहा है ! जहां जीवन उत्पत्ति की निरन्तर प्रक्रिया में है। वह स्थान तो देह के भीतर है। आत्मा बनकर शबरी का राम, जीव मात्र के भोजन को शबरी के जूठे बेरों का प्यार देता निरन्तर शक्ति, रक्त, मांस, मज्जा में तथा नवजात शिशु की कोमल देह में उत्पन्न कर रहा है। फिर पूंछना चाहूंगा कि आप जीवन रहस्यों को खोजने कहां जाना चाहेंगे ? जी हॉं ! वेद के वैज्ञानिक ऋषि भी आपसे ही सहमत होकर सत्य को खोजने अपने भीतर गये हैं।

सृष्टि है जहां, सृष्टा है वहां ! वहीं मिलेंगे अनबूझ पहेलियों के उत्तर ! सृष्टि हो रही प्रत्येक देह में निरन्तर, सृष्टा बनकर घटघटवासी आत्मा, निरन्तर सृष्टि को गढ़ रहा प्रत्येक जीवधारी की देह में ! उत्तर मिलेंगे वहीं जाकर ! दूर नहीं, अपने ही शरीर के भीतर !

कच्चे चावल से बने शरीर को मेरे समिधा, सामिग्री सा मेरी ही ब्रह्मज्वाला में पुनः

करके यज्ञ, उसे यज्ञ का सोम बना दे।

अस्य पीत्वा शतक्रतो घनो वृत्राणमभवः। प्रावो वाजेषु वाजिनम्।। ४/८।।

अस्य, पीत्वा, शतक्रतो, घनो, वृत्राणम्, अभवः, प्रावो, वाजेषु, वाजिनम्।

ऐसे सोम रूपी आसव को (अस्य) जीव रूप यजमान पीकर (पीत्वा) सहस्त्र कौंधती (शतक्रतो) बिजलियों सा मद एवं सत्ता ग्रहण करता असत्य और अज्ञान के घने (घनो) घुमड़ते बादलों (वृत्राणाम्) को नष्ट करता मिटाता (अभवः) सम्पूर्ण समर्पण की एकाग्रता से व्यापकता से (प्रावो) मद मस्त होकर सामिग्रीवत यज्ञाग्नियों (वाजेषु) में यज्ञ हो (वाजिनम्) जाये।

बने आसव सोम ज्योतियों का शरीर उसका, जीव बन यजमान पीये उसको और मद से भरपूर अपनी ही ब्रह्माग्नियों में यज्ञ होकर व्याप्त हो जाये।

तं त्वा वाजेषु वाजिनं वाजयामः शतक्रतो। धनानामिन्द्र सातये।। ४/६।।

तम्, त्वा, वाजेषु, वाजिनम्, वाजयामः, शतक्रतो, धनानाम्, इन्द्र, सातये।

तब (तम्) हे यज्ञ (त्वा) तुममें से प्रकट हो एक नूतन सृष्टि (सदा की भांति) यज्ञ होकर (वाजेषु) यज्ञ के द्वारा (वाजिनम्) एक शिशु विष्णु सा सुन्दर और अमर (वाजयामः) तथा रूद्र सा प्रलयंकर (शतक्रतो) यज्ञपुत्र ! अमर ज्वालाओं के अमर धन (धनानाम्) से ऐश्वर्यमय (इन्द्र) और अमर सुखों से परम सुखी (सातये)।

हम सदा आत्मा के यज्ञ से ही उत्पन्न होते हैं। हम सदा आत्मा से ही उत्पन्न होंगे। तब हम क्यों न फिर उत्पन्न हों अपनी ज्वालाओं में यज्ञ होकर। कैसी विचित्र, परन्तु तर्क की प्रत्येक कसौटी के प्रत्येक प्रश्न का समुचित उत्तर देती, आदि प्राचीन सशक्त, आकाशजयी कल्पना ! साहस नहीं होता कि इसे मानवीय कल्पना भर ही कहूँ। कौन होगा वह मानव ? क्या उसमें और परमेश्वर में कोई

दूरी बाकी रह गयी होगी ?

क्या सशक्त एक एक पल की कहानी सुनायी है। कितनी सजीव, कितनी सम्यक! चित्र भी कल्पनाओं के कितने जीवन्त और तर्क संगत हैं। तब अपने तन के आसव को ज़ीवरूपी यजमान पीकर, असत्य और अज्ञान के बादलों पर कौंधती बिजलियों का प्रहार करता, अपनी ब्रह्मज्वालाओं में आकर व्याप्त हो। फिर सदा की भांति जन्म ले। जैसा सदा होता आया है। परन्तु इस बार कुछ लीक से हटकर हुआ है। प्रत्येक बार उसे धरती से उठकर आत्मा में यज्ञ के द्वारा नया जन्म लेना होता था। इस बार उसे अपने को ही यज्ञ में अर्पित कर नया रूप लेना होगा।

श्रीमद्भगवतगीता में श्रीकृष्ण के शब्द, " हे अर्जुन ! तेरे भी गमन के दो रास्ते हैं। एक सकाम मार्ग है, जिसका पितृयान (चिता की लकड़ियों का) है और धूम्र मार्ग है। जिसमें बाम्बार आवागमन है। दूसरा निष्काम मार्ग है। जिसे शुक्ल मार्ग कहते हैं। जिसका देव (आत्मा) यान है। जिसमें बारम्बार पीछे आने की गति नहीं है। अमर राह है।

यो रायोऽवनिर्महान्त्सुपारः सुन्वतः सखा।

तस्मा इन्द्राय गायत।। ४/१०।।

यो, रायो, अवनिः, महान्त्सुः, पारः, सुन्वतः, सखा, तस्मा, इन्द्राय, गायत।

जो (यो) शीघ्रतापूर्वक (रायो) आत्मा रूपी धरती (अवनिः) पर अपनी महा अन्त्येष्ठी (महान्त्सुः मह + अन्त्सु) करके हुआ जीवन के उस पार (पार = सुपारः) प्रकट (सुन्वतः) जन्म पाया जो। बन गया स्वयं आत्मा (सखा) उसके (तस्मा) गीत (गायत) गाती रहीं महान अमर (इन्द्राय) अग्नियां।

पता नहीं कैसे भुला दिया इन गीतों को मानव ने। कहां खो गयीं ये अदभुत कल्पनायें। हम सब तो दिशा ही खो बैठे। ये गुरुकुल शिक्षा के आरम्भ मात्र हैं। जैसा कि पहले भी आपसे विनती कर चुका हूँ कि वेद की भाषा सूत्रात्मक है। अभी इन ऋचाओं की गहराईयों में बहुत कुछ छिपा है जो साम्यक न होने से अभी नहीं दे पा रहा हूँ। अभी हम छात्र की मानसिकता भर ही वेद के रहस्य प्राप्त कर रहे हैं।

सोचिये जिन के मन के खाली घड़े वेद के अमृत से भर जाते थे, उनके जीवन के स्तर क्या होते होंगे ? उनका सामाजिक जीवन का स्तर क्या होता होगा ? अन्तर्मुखी जीवन को जीने वाले समाज में कितनी विसंगतियां, अन्याय और अपराध जन्मते होंगे ? उनका समाज और सामाजिक जीवन कैसा होता होगा ? उनको कितनी पुलिस और सेना की जरूरत होती होगी ? वहां के धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक नेता कैसे होते होंगे ? क्या आज जैसे ही ?

उस समय के लोगों का गृहस्थ धर्म का स्वरूप कैसा होगा। क्या तब भी पड़ोसियों को झांकते इसी तरह होंगे ? शिक्षा पेट की रोटी भर रह जाये अथवा शिक्षा मानव और ईश्वर का भेद ही मिटा दे ! आप किसे शिक्षा मानेगे। एक आधुनिक घटना भी सुनाते चलें। एक सन्यासी का चेला गृहस्थों को देखकर बहक गया। उसने गुरू से कहा वह गृहस्थ धर्म भी देखना चाहता है। गुरूदेव ने अगले दिन अखबार मे विज्ञापन दे दिया, "जरूरत है एक कुंवारे को एक श्रीमति की।" कुछ ही दिनों में सैकड़ों चिट्ठियां आयीं, "अरे भई ! परेशान क्यों हो। आओ हमारी ले जाओ !" सब में बस यही लिखा था।

जीव रूपी यजमान

यज्ञ के समीकरण हमें स्पष्ट हो रहे हैं। आत्मा यज्ञ का अधिष्ठित देव एवं आचार्य है। प्राणवायु उपाचार्य एवं जीवन सोम ज्योतियों का दाता है। ब्रह्मज्वाला ही यज्ञ की अग्नि है। तन सामिग्री है। समिधा हैं मेरे कर्म आचरण विचार और जीवन के व्यवहार। जीवन के क्षण एवं स्वभाव मेरा हवन का घृत है। जीव रूप मैं ही यजमान हूं। हर बार मेरा जन्म इसी यज्ञ से होता है। माता एवं पिता सांचों की भांति हैं। जैसा सांचा, तैसा रूप है। सभी योनियों में यही सिद्धान्त है। हम वेद की इसी सम्मुन्नत कल्पना को गुरुकुल में बालकों के माध्यम से स्पष्ट कर रहे हैं। बाल शिक्षा के ऐसे आरम्भ की कल्पना भी अब नहीं की जा सकती।

''ज्योतिर्वेद के विभिन्न सोपान'' ग्रन्थ के प्रथम खण्ड में ही जीवन के भूतल पर स्थानान्तरण की संक्षिप्त चर्चा में हमने उस भयंकर त्रासदी की भी चर्चा की है। धूम्रकेतु के उल्कापात के उपरान्त ग्लेशियरों के पिघलने से मैदान अचानक महासागर में बदल गये। ज्ञान विज्ञान सब सागर में समा गये। सम्पूर्ण ग्रह जो एक ही पिण्ड था तथा देखने में पके जामुन के फल के सदृश्य दिखता था, जिसके कारण ही इसका नाम ''जम्बु द्वीप'' रखा गया था, अचानक जल प्रलय से नाना टुकड़ों में विभक्त होता, सागर और भूखण्डों के रूप में परिणित होने लगा। अन्तर्ब्रह्माण्डीय मानव संस्कृति महाविनाश की गोद में समा गयी। ब्रह्माण्ड विचरण तो दूर, धरती पर बच गये लोगों का जीवन भी दुष्कर हो गया। उनके सामने जीवित रहना भी एक समस्या बन गया होगा। इन परिस्थितियों में अतीत को समेटने तथा अतीत से जुड़े रहने की तथा भविष्य में पुनः अपनों से मिल जाने की उत्कट अभिलाषा लिये हुए ही उन्होंने इस गुरुकुल की शिक्षा को यथा रूप दिया होगा। उनकी तड़प, कि धरती का मानव कहीं अपने अतीत से सर्वथा कट न जाये, उनकी शिक्षा कथाओं तथा लगभग सभी ग्रन्थों में स्पष्ट दिखायी पड़ती हैं। वेद भी इससे अछूते नहीं हैं।

बालक सदा की भांति गुरूदेव के सम्मुख हैं। आज गुरूदेव ऋषि मधुच्छन्दा के पंचम सूक्त का पाठ करेंगे। बालक उत्सुक हैं। चार सूक्त उन्होने भली प्रकार से जान लिये हैं। आचार्यों तथा उनकी पत्नियों तथा अपने अभिभावकों से विस्तार से ग्रहण किये हैं।

आ त्वेता निषीदतेन्द्रमभि प्रगायत।

सखायः स्तोमवांहसः।। ५/१।।

आ, त्वेता, निषीदत, एन्द्रम्, अभि, प्रगायत, सखायः, स्तोम, वाहसः।

आकर (आ) आपके सम्मुख (त्वेता) बैठा है (निषीदत) जीव (एन्द्रम्। इन्द्र का पुत्र) यज्ञ में यज्ञमय होकर जन्मने (प्रगायत) के लिये सचराचर के सखा आत्मा (सखायः) यज्ञों (स्तोम) को धारण करने वाला (वाहसः) वह जीव ही यज्ञ का यजमान है।

जीव को वेद में एन्द्र कहकर आगे भी सम्बोधित किया गया है। इन्द्र के नाना अर्थों में एक अर्थ **मन** भी है। मन की इन्द्रियों से अर्जित होने के कारण बुद्धि को अर्जुन भी कहते हैं। उपरोक्त ऋचा में जीव को यजमान बनाकर आत्मकुण्ड के सम्मुख आत्मा जो सचराचर का सखा है, यज्ञ का आचार्य है, के सामने यज्ञ के लिये बिठाया गया है। सखा शब्द का प्रयोग श्रीकृष्ण के लिये व्यापक रूप से होता है। सखा भाव में सबसे समान भाव रहता है। न कोई छोटा तथा ना ही कोई बड़ा। सखा को ही अंग्रेजी में आप **कम्यून** कह सकते हैं। इसी से शब्द बना है **कम्युनिष्ट**। आत्मा ही मात्र सखा है। जीवमात्र से भेद नहीं करता। अमीर अथवा गरीब का विचार नहीं करता। जात पांत अथवा लिंगभेद का विचार नहीं करता। योनि भेद में भी आत्मा विश्वास नहीं करता। हर ओर समान भाव से यज्ञ का आचार्य बना, जीव मात्र को संतति से वरद करता है। जीव मात्र की जूठन को उसकी देह में यज्ञ करता, उन्हें जीवन से वरद करता, किसी से किसी प्रकार की इच्छा अथवा कामना नहीं करता। इसलिये वेद में आत्मा को सखा तथा जीव को एन्द्र संज्ञा व्यापक रूप से प्रदान की गई है।

यज्ञ का चित्र अब पूर्ण मर्यादा प्राप्त कर चुका है। जीवन ही यज्ञ है। यज्ञ से ही सचराचर की सृष्टि एवं प्रलय तथा पुनरूद्धार संभव है। आकर बैठना है हमें

आत्मकुण्ड के सम्मुख, बनके समर्पित सखा आत्मा के। हम भी बने सखा आत्मा की भांति, सचराचर के। जीवन एक पवित्र यज्ञ है। उसे आसक्तियों, विषयों में बरबाद करना अपने होने के भाव का अपमान है। स्वयं को दी गयी एक गन्दी भद्दी गाली है। सदा आत्मा सखा के सम्मुख रहें। यज्ञ में प्रत्येक क्षण को आहुति बना अर्पित करें।

पुरूतमं पुरूणामीशानं वार्याणाम्।
इन्द्रं सोमे सचा सुते।। ५/२।।

पुरूतमम्, पुरूणाम्, ईशानम्, वार्याणाम्, इन्द्रम्, सोमे, सचा, सुते।

पुरों में भी सर्वोत्तम लोक (पुरूतमम्) लोकों में (पुरूणाम्) भी महा सूर्य अर्थात आत्मलोक (ईशानम्) में बैठा है वह, यज्ञ के वरण (वार्याणाम्) करने हेतु तथा उसकी महान अग्नियों में (इन्द्रम्) निचुड़ जाने के लिये (सुते) तथा पुनः अमर सोम (सोमे) से युक्त (सचा) होकर जन्मने (सुते) के लिये। वह जो आकर तत्परता से यज्ञ के सम्मुख बैठ गया है। वरण करेगा और अमर जन्म पायेगा।

लोकों में भी सर्वोत्तम लोक है वह ! सर्वोत्तम लोकों में भी महा सूर्य का लोक है। ऐसे सूर्य का लोक जो सहस्त्रों सूर्यो को ज्योति प्रदान करता है। कौन सा लोक है ? मानव तेरा शरीर ही वह लोक है। जहां सहस्त्रों सूर्यो को तेज प्रदान करने वाला आत्मा साक्षात विराजमान है। आत्मा परमेश्वर स्वयं यज्ञ में प्रकट है। तेरा वरण करने आया है। अमर ब्रह्मज्वालाओं में तुझे निचोड़ कर नूतन देव रूप में उत्पन्न करने आया है। चल भीतर, कर अद्वैत आत्मा से। योगी हो जा !

स घा नो योग आभुवत्स राये स पुरन्ध्याम्।
गमद्वाजेभिरा स नः।। ५/३।।

स, घा, नो, योग, आभुवत्स, राये, स, पुरन्ध्याम्, गमत्, वाजेभिरा, स, नः।

(स) जीव वह (घा) मारना घात करना (नो) हम भी उनकी भांति (सघानो) सघन बादलों का मिलन (योग) अन्तरिक्ष में (आभुवत्स) वे शीघ्रता से (राये) टकराते हैं। फिर वह (स) बरस जाते हैं अर्न्तध्यान हो (पुरन्ध्याम्) जाते हैं। वे समाप्त नहीं होते।

वरन जाते हैं धरा पर (गमत्) यज्ञ के लिये (वाजेभिरा) नयी सृष्टि के लिये। हम भी (नः) उनके जैसे ही हों।

सघन बादलों का मिलन होता गगन में जिस प्रकार ! वे तीव्रता से टकराते, दहाड़ते और बिजलियों के अस्त्रों से प्रहार करते, बरस जाते धरा पर! उनकी बून्दे वनस्पतियों तथा जीवधारियों में अमृत यज्ञ हो नयी उत्पत्ति को प्रकट करती। उसी प्रकार जो करते हैं आत्म मंथन ! मन के अंतरिक्ष में करते सत्य का घर्षण! वे पाते यज्ञ की राह और अमर नित्य जीवन ! शरीर के अंतरिक्ष में आत्म अग्नियों में होकर यज्ञ पाते अमर राह !

यस्य संस्थे न वृण्वते हरी समत्सु शत्रवः।
तस्मा इन्द्राय गायत।। ५/४।।

यस्य, संस्थे, न, वृण्वते, हरी, समत्सु, शत्रवः, तस्मा, इन्द्राय, गायत।

जिसमें (यस्य) योग स्थित (संस्थे) नहीं (न) जीत पाती (वृण्वते) वरण कर पाते विष अथवा मृत्यु (हरी) सम्पूर्ण (समत्सु) शत्रु (शत्रवः) ऐसे आत्मयज्ञ को ही (तस्मा) ब्रह्मज्वालायें (इन्द्राय) गाती हैं (गायत) सम्मानित एवं अलंकृत तथा सफल बनाती हैं।

जिस यज्ञ में स्थित होने से मृत्यु भी पराजित हो जाती है। कोई भी विष जीव को मार नहीं सकता। सारे शत्रु भी उसे परास्त अथवा मार नहीं सकते। यज्ञ बस वही है। वह यज्ञ है आत्मा का जो प्रज्जवलित है निरन्तर, प्रत्येक शरीर में। जो करते योग इस आत्मयज्ञ में। वे पाते अजर अमर पद। यज्ञ की अमर रश्मियां गाती गीत उनके सदा।

सुतपाव्ने सुता इमे शुचयो यन्ति वीतये।
सोमासो दध्याशिरः।। ५/५।।

सुत, पाव्ने, सुता, इमे, शुचयो, यन्ति, वीतये, सोमासो, दध्याशिरः।

निचुड़ गये हव्य जैसे (सुत) परम पवित्र कर (पाव्ने, पावने) पुनः उत्पन्न (सुता)

करने वाली हे ब्रह्मज्वाला ! इस प्रकार (इमे) पवित्र किया (शुचयो) जो (यन्ति) व्याप्त हो गये तुममें (वीतये) जैसे ज्योतियों (सोमासो) के क्षीरसागर से सूर्य (दध्याशिरः) प्रकट हो गया हो।

कितना सजीव चित्रण है ! कितना हृदयस्पर्शी ! तर्क और प्रमाणों के अम्बार लिये! निचुड़ गये जो हव्य के समान अपनी ही आत्म ज्वालाओं में। तप, साधना, समर्पण, एकलव्य सा लक्ष्य लिये । वे ही जन्म पाये सूरज के जैसा। हर रात समाता सूरज आसमान में, हर सुबह नया हो चमकता आसमान में ! संसार में जीवन के क्षणों से अधिक मूल्यवान कुछ भी नहीं है। जिसने इनके मूल्य को जाना, यथा प्रयोग किया। वह जीवन के अति मूल्यवान क्षणों के अमर, कभी न समाप्त होने वाले अक्षय भन्डार का स्वामी हो गया।

त्वं सुतस्य पीतये सद्यो वृद्धो अजायथाः।
इन्द्र ज्यैष्ठयाय सुक्रतो।। ५/६।।

त्वम्, सुतस्य, पीतये, सद्यो, वृद्धो, अजायथाः, इन्द्र, ज्यैष्ठयाय, सुक्रतो।

तुमने (त्वम्) हे ब्रह्म ज्वाला, अपने द्वारा उत्पन्न किये हुए को पुनः पीकर (पीतये) नित्य अमर (सद्यो) महान पद (इन्द्र) सर्वोच्च एवं ज्येष्ठ श्रेष्ठ (ज्यैष्ठयाय) पद प्रदान करने का आलौकिक कृत्य (सुक्रतो) कर दिखाया।

जो कार्य देवताओं के लिये भी दुर्लभ है। किसी को अमर करना उनके लिये भी सहज नहीं है। हे आत्मा अग्नि आप उसे सहज ही कर दिखाती हैं। अपने द्वारा प्रकट किये गये शरीर को पुनः अपनी ब्रह्मज्वालाओं में यज्ञ कर आप जीव को अमर पद प्रदान करती हैं।

आ त्वा विशन्त्वाशवः सोमास इन्द्र गिर्वणः।
शन्ते सन्तु प्रचेतसे।। ५/७।।

आ, त्वा, विशन्त्व, अशवः, सोमास, इन्द्र, गिर्वणः, शन्ते, सन्तु, प्रचेतसे।

आकर (आ) तुम (त्वा) उसे अमृत (अशवः) विशिष्ट मंगल शांति (विशन्त्व)

ज्योतिर्मय अमर उत्पत्ति का ज्ञान (सोमास) अमर (इन्द्र) देव गुरू बृहस्पति (गिर्वणः) सी सामर्थ्य तथा अनन्त शान्ति (शन्ते) पद पर आसीन (सन्ते) एवं प्रकाशित स्थापित (प्रचेतसे) करती हैं।

आत्मयोगी ही पाते सृष्टि, प्रलय एवं नित्य उत्पत्ति के रहस्य। देवगुरू बृहस्पति सा महान पद, ज्ञान और सामर्थ्य। देवताओं के भी पूज्य बन जाते। वे जो जानते मूल्य जीवन के क्षणों का। गगन में सूर्यों के सूर्य बन होते प्रकाशित। हे ब्रह्मज्वाला जो आते आपकी नित्य शरण में !

त्वां स्तोमा अवीवृधन् त्वामुक्था शतक्रतो।
त्वां वर्धन्तु नो गिरः।। ५/८।।

त्वाम्, स्तोमा, अवी, वृधन्, त्वाम्, उक्था, शतक्रतो, त्वाम्, वर्धन्तु, नो, गिरः।

तुम हो (त्वाम्) सत्य रूप में यज्ञ (स्तोमा) सृष्टि (अवी) की वृद्धि (वृधन्) के अर्थात महाविष्णु (अवीवृधन्) तथा लक्ष्मी (अवीवृधन), तुमको गाते वेद (उक्था) प्रलयकर महारूद्र (शतक्रतो) तथा आदि ज्वाला आदिशक्ति (शतक्रतो) के रूप में ! आप ही हैं हमारे (नो) ज्ञान की वृद्धि करने वाले (वर्धन्तु) ब्रह्मा (वर्धन्तु) तथा आप ही हमारी वाणीयों की सरस्वती (गिरः)। हे यज्ञ आप ही हमारा सर्वस्व हैं।

त्वां स्तोमा अवीवृधन तुम यज्ञ हो उत्पत्ति के। जब प्रकृति अथवा स्त्री पुन उत्पत्ति (रजस्वला) होती है उस अवस्था को अवी कहते हैं। **अवीवृधन** शब्द लक्ष्मी तथा विष्णु के नामान्तर प्रयोग होता है। इसी प्रकार **शतक्रत** शब्द का प्रयोग महाशिव तथा आदिशक्ति दुर्गा के लिये समभाव से होता है। **वर्धन्तु** ब्रह्मा जी का नाम है।

हे आत्मा ! हे यज्ञ ! आप ही विष्णु हैं। आप ही लक्ष्मी हैं। आप ही महाशिव हैं तथा आप ही आदि शक्ति हैं। आप ही ब्रह्मा हैं तथा आप ही सरस्वती हैं। आप को ही चारों वेद नाना नामों एवं नाना कृत्यों के अनुरूप गाते हैं। ज्ञानीजन आपको अपनी आत्मा में देखते हैं। आप ही घटघट वासी श्रीकृष्ण एवं श्रीराम हैं।

अक्षितोतिः सनेदिमं वाजमिन्द्रः सहस्त्रिणम्।

यस्मिन् विश्वानि पौंस्या।। ५/६।।

अक्षितोतिः, सनेदिमम्, वाजम्, इन्द्रः, सहस्त्रिणम्, यस्मिन्, विश्वानि, पौंस्या।

सीपी में बन्द मोती अथवा मुंदी पलकों में पुतली (अक्षितोतिः) की भांति हे स्नेहसिक्त (सनेदिमम्) हम पाते हैं आपको ! आप ही सबकी देह में आत्मा के रूप में यज्ञ (वाजम्) करते हैं आत्म ज्वालाओं (इन्द्रः) में सहस्त्र सहस्त्र (सहस्त्रिणम्) जिसके कारण (यस्मिन्) यह क्षणभंगुर मरणशील संसार (विश्वानि) फिर फिर जीवन्त प्रकट (पौंस्या) हो रहा है।

अक्षितोति सनेदिमम् सीपी में बन्द मोती, मुन्दी पलकों पुतली की भांति **सनेदिमम्** हे स्नेहसिक्त इसप्रकार तुम कर रहे **वाजमिन्द्रः सहस्त्रिणम्** ब्रह्म ज्वाला में यज्ञ सहस्त्र सहस्त्र **यस्मिन** जिसके कारण **विश्वानि** क्षण भंगुर संसार **पौंस्या** चैतन्य हो रहा है।

न तो इसमें कोई सम्प्रदाय की घुटन है ना ही भेद की सड़न टूटन है। आत्मा ही ईश्वर है। सबकी देह में समान भाव से विराजमान है। ना कोई ठेका ना ही कोई ठेकेदार ।धर्म और साम्प्रदायिकता में सदा क्षितिज की दूरियां रहती हैं। कोई आंख वाला होगा तो पहचान लेगा। सब एक ही आत्मा से उत्पन्न हैं। आत्मा ही जनक है। यह गुरूकुल शिक्षा का आरम्भ है। आश्चर्य कि हम इसे अब स्कूलों में नहीं पढा सकते। सैक्युलरिज़म जो है। साम्प्रदायिक भेदभाव के ग्रन्थ पढ़ाये जा सकते हैं। सैक्युलरिज़म जो है।

मा नो मर्त्ता अभिद्रुहन् तनूनामिन्द्र गिर्वणः।

ईशानो यवया वधम्।। ५/१०।।

मा, नो, मर्त्ता, अभिद्रुहन्, तनुनाम्, इन्द्र, गिर्वणः, ईशानो, यवया, वधम्।

हम सब (नो) स्वयं को विषय एवं अज्ञान के षडयन्त्रों (अभिद्रूहन्) से अलग तथा रहित (मा) करें। मृत्यु (मर्त्ता) के हमारे द्वारा किये गये अपने प्रति षडयन्त्रों को

देवत्व के मार्ग(गिर्वण) में बीज सहित (यवया) नष्ट (वधम्) करते हुए आत्मा के देवत्व को प्राप्त हों।

मा नो मर्त्ता अभिद्रुहन् हमें हमारे षडयन्त्रों से बचा लो **तनुनामिन्द्र गिर्वणः** शरीरों को देवत्व प्रदान करने वाले **ईशानो यवया वधम्** हे सूर्य हे आत्मा उनका बीज सहित विनाश करें।

कैसी विचित्र मर्माहत असहाय अवस्था में की गई प्रार्थना है। हमें हमारे प्रति, हमारे ही द्वारा किये जा रहे षडयन्त्रों से, परमेश्वर आकर बचाये ? हम स्वयं अपने ही षडयन्त्रों से बच न पावें शायद ? आत्म अभिव्यक्ति की पराकाष्ठा है। मेरा तेरा, ईर्ष्या द्वेष, लोभ मोह, घृणा आसक्ति, भेद भाव, असत्य अज्ञान, विषय वासनायें, चाहत अतृप्ति, चिन्ता दुख, मद और दम्भ, क्रोध बदला, अपमान और भय, ऐसे नाना कुकर्मो को हम जानकर भी छोड़ नहीं पाते हैं। असहाय पशु की भांति नित्य इनकी वेदी पर काटे जाते हैं। हम हैं कि अपने प्रति षडयन्त्र से बाज़ नहीं आते हैं। कटने वाले भी हम और काटने वाले भी हम स्वयं ही हैं। अब तो हे ईश्वर आप ही हमें इस दयनीय अवस्था से हमारी रक्षा करें।

ऋषत्व की विनम्र अवस्था को प्राप्त कोई ऐसा कह सकेगा। एक दम्भी के लिये इस सत्य को स्वीकारना भी सम्भव नहीं है। जीवन ही अति दुर्लभ यज्ञ है। अति मूल्यवान हैं जीवन के क्षण ! उतनी ही मूल्यवान है जीवन की मन्ज़िल! जिसे पाये बिना जीवन एक सर्वहारा पराजय है।

अब मंज़िल तो दूर, स्वयं तक पहुंच पाना भी सम्भव नहीं है। नाटयशाला की तथाकथित वास्तविकता ही मेरे जीवन का सत्य बनकर मुझे सदा सदा के लिये सत्य से बहुत दूर अकाल मृत्यु की गोद में सदा सदा के लिये मिटा कर पतित योनियों में भटकते रहने के लिये मज़बूर कर देती है। मैं स्वयं को कभी जान ही नहीं पाता हूँ।

नाटक के कलाकार नाटक को जीवन्त स्वाभाविक ढंग से खेलते हैं। दर्शक मुग्ध मूक नाटक में खो जाते हैं। उन्हें अपना भान ही नहीं रहता। परन्तु नाटक को वे सदा के लिये सत्य तो नहीं मान लेते अथवा नाटक में स्वयं को दर्शक के स्थान पर सदा के लिये नाटककार मान बैठते हों ? यहां भी वे तन का एक कोश भी नहीं बना पाते। बेटा बेटी बनाना असंभव है। फिर आत्मा के स्थान पर स्वयं को

ही विधाता मान बैठने की भारी भूल कर बैठते हैं। सत्य से सदा के लिये कट जाते हैं। भ्रम ही जीवन और जीवन की उपलब्धि बन कर रह जाता है। यही इस सूक्त की अन्तिम ऋचा में मधुच्छन्दा ऋषि ने प्रार्थना में आत्मा से, यज्ञ से कहा है।

आहुतियाँ !

यज्ञ का स्वरूप उभर कर स्पष्ट हो रहा है। गुरूकुल में छात्रों ने बहुत कुछ अमृत ज्ञान पाया है। बहुत से प्रश्न उनके निर्मूल हुए हैं। बहुत से नये संशय, प्रश्न बन कर उभर आये हैं। उन्हीं बालकों के संग हम उनकी मानसिकता में वेद के अमृत ज्ञान को यथा काल, यथा मर्यादा में ग्रहण कर रहे हैं। गुरूदेव विराजमान हैं। छठा सूक्त प्रारम्भ होने वाला है।

युञ्जन्ति ब्रध्नमरूषं चरन्तं परितस्थुषः।
रोचन्ते रोचना दिवि।। ६/१।।

युञ्जन्ति, ब्रध्नम्, अरूषम्, चरन्तम्, परितस्थुषः, रोचन्ते, रोचना, दिवि।

जुड़ जायें, योग में स्थित हों (युञ्जन्ति) आत्मा से ब्रह्म से (ब्रध्नम्) वे ही सचराचर की गति (चरन्तम्) हैं, चलाने वाले हैं तथा सम्पूर्ण सचराचर के नित्य आत्मा होकर सबमें नित्य स्थित (परितस्थुषः) व्यापक रूप से सबमें स्थित है। जीवन्त एवं प्रकाशित कर रहे एवं जगमगा रहे धरती और आकाश, निशि दिन।

आओ जुड़ जायें, योग करें अपने आत्मा ब्रह्म से। वे ही जीवन को गति प्रदान करने वाले हैं। विचार, चेष्टा, सन्तति, उत्पत्ति, जागृति एवं स्वप्न उनसे ही गति पाते हैं। प्रत्येक गति उनसे ही प्रारम्भ होती है। स्थावरों में वे आत्मा के रूप में नित्य अर्थात अमर होकर स्थित हैं वे ही प्रकाशित कर रहे प्रत्येक जीवन सचराचर में। उनसे ही है ज्योतिर्मय धरती और आकाश।

युञ्जन्त्यस्य काम्या हरी विपक्षसा रथे।
शोणा धृष्णू नृवाहसा।। ६/२।।

युञ्जन्, त्यस्य, काम्या, हरी, विपक्ष, सा, रथे, शोणा, धृष्णू, नृ, वाहसा।

जुड़कर, युक्त होकर, योग करके (युञ्जन्) जिससे (त्यस्य) सम्पूर्ण कामनाओं (काम्या) का शमन (हरी) हो जाता है। पक्ष से रहित अर्थात आवागमन से मुक्त (विपक्ष) जीव (सा) हो देहाभिमान (रथे) से रहित जाता है। रक्ताभ दहकती (शोणा) ब्रह्मज्वाला (नृ) को धारण करने वाले यज्ञ (वाहसा) को प्राप्त हो जाता है। जीवन के अभीष्ट लक्ष्य अर्थात परम गति को प्राप्त होता है।

केतुं कृण्वन्नकेतवे पेशो मर्य्या अपेशसे।
समुषद्भिरजायथाः।। ६/३।।

केतुम्, कृण्वन, अकेतवे, पेशो, मर्य्या, अपेशसे, सम्, उषद्भिः, अजायथाः।

उपाधियों (केतुम्) को करके (कृण्वन) अकिंचन (अकेतव) भेद जगत के ज्ञान (पेशो) की सीमा (मर्य्या) को लांघकर मूढ़ (अपेश) हो यदि प्रातः के सूर्य (उषद्भिः) के समान (सम्) आत्मा की राह में जन्मना (अजायथाः) चाहता है।

केतु शब्द के अर्थ हैं ध्वजा, ग्रह का नाम, उपाधि, दम्भ एवं मिथ्याभिमान। जहां उपाधि है वहां व्याधि है। समाधि हो ही नहीं सकती। उपाधियों नष्ट कर जो सत्यनिष्ठ है वही अकिंचन हो सकता है। **पेश** कहते हैं भेद जगत को; मेरा तेरा, अपना पराया, ऊंच नीच, जात पांत, सम्पूर्ण भेद जगत के भेदभाव। **मर्य्या** शब्द का अर्थ सीमा है। **दा** के समायोजन से शब्द बनेगा **मर्य्यादा**। दा दायनी के अर्थ में है। मर्यादा अर्थात सीमादायनी। **अपेश** का अर्थ भेदरहित है। अभेद हुए बिना अभेद ब्रह्म की प्राप्ति असंभव है। मूढ़ का अर्थ अभेद ही है। अज्ञान नहीं है। ज्ञान की पराकष्ठा को प्राप्त होने के उपरान्त, विरक्ति की अवस्था को मूढ़ कहा गया है। मूढ़ को ही ग़ाफिल कहते हैं।

उतना ही वो ग़ाफिल है। जिसको जितनी मालूमात।

उपाधियों को नष्ट करके अर्थात भुलाकर, विरक्त होकर, मूढ़ भाव को ग्रहण करना ही वाहय यज्ञ है। मूढ़ भाव के बिना जीव को आत्मा में प्रवेश मिलना संभव ही नहीं है। आत्मा की राह में उसे ही प्रवेश मिलेगा जो मूढ़ और अभेद भाव को वाहय

जगत में ग्रहण कर लेगा। यही इस ऋचा में कहा गया है। जब वाहय जगत में मूढ़ और अकिंचन हो तब ?

आदह स्वधामनु पुनर्गर्भत्वमेरिरे।
दधाना नाम यज्ञियम्।। ६/४।।

आ, दह, स्व, धाम, नु, पुनर्, गर्भत्वम्, एरिरे, दधाना, नाम, यज्ञियम्।

आकर (आ) दहन (दह) हो अपनी आत्मा (स्व) में (नु) पुनः (पुनर्) उसके गर्भ में जन्म (गर्भत्वम्) लेकर सूर्य के सदृश्य (एरिरे) प्रकट हो। तब धारण चरितार्थ कर (दधाना) नाम (नाम) यज्ञिय का (यज्ञियम्) स्वयं को यज्ञ का अधिष्ठाता कहलाने का।

बालकों के मन के संशय तथा हमारे मन के संशय भी विराम पा गये हैं। हम जानना चाहते थे कि जब आत्मा में ही यज्ञ होना सत्य है तो नित्य प्रति श्रद्धा एवं आस्था सहित वाहय यज्ञ क्यों ? उत्तर हमारे पास है। उपरोक्त दो ऋचाओं में हमें उत्तर समुचित रूप से मिल गया है।

दम्भ, उपाधि और भेद जगत को वाहय यज्ञ में समाप्त कर दे। अकिंचन एवं मूढ़ हो। वाहय यज्ञ में पवित्र अकिंचन और मूढ़ होकर आत्मा के यज्ञ के प्रवेश का अधिकारी हो। वाहय यज्ञ में निर्मल हो यदि आत्म यज्ञ में प्रवेश पाना चाहता है। आत्मा की राह में जन्मना चाहता है तो सर्वप्रथम वाहय यज्ञ में उपाधि और भेद जगत को आहुतियों के साथ भस्म कर दे। जो वाहय यज्ञ की मर्यादा में मूढ़ एवं अकिंचन नहीं हुआ, उसे आत्मा में प्रवेश मिलना नितान्त असंभव है।

यज्ञ से पवित्र होकर आत्म यज्ञ में प्रवेश कर। आकर दहन हो आत्मा रूपी धाम में, पुनः यज्ञ होकर सूर्य के सदृश्य उत्पन्न होने के लिये। तब यज्ञिय कहलाने के सही अर्थों को धारण कर। इससे स्पष्ट है कि वाहय यज्ञ से यज्ञ का आरम्भ ही हो सकता है। उसकी पूर्णाहूति आत्मा में ही आकर होगी। जैसे पूजा, पाठ, जप, तपादि के पूर्व व्यक्ति को शौच स्नानादि से पवित्र होना अनिवार्य है, उसी प्रकार वाहय यज्ञ, मूल आत्मयज्ञ में प्रवेश से पूर्व पवित्र होने की प्रक्रिया है। आश्चर्य कि वर्तमान युग केवल वाहय यज्ञ को ही यज्ञ मानकर, यज्ञ के स्वरूप एवं यज्ञ की

व्याख्या, मर्यादा को ही भूल बैठा।

बीलु चिदारूजत्नुभिर्गुहा चिदिन्द्र वन्हिभिः।

अविन्द उस्त्रिया अनु।। ६/५।।

बीलु, चिदारूज्, तनुभिः, गुहा, चिद्, इन्द्र, वन्हिभिः, अविन्द, उस्त्रिया, अनु।

दसों इन्द्रियों को जन्मने वाली (बीलु) चित (चिद्) मन को ज्योतिर्मय (अरूज्) बनाने वाली देह रूपी (तनुभिः) गुफा (गुहा) में विचरण करने वाली (चिद्) चित मन को महान (इन्द्र) बनाने वाली अग्नियों (वन्हिभिः) को उत्पन्न करने वाले सूर्य अथवा यज्ञ (उस्त्रिया) का अनुसरण (अनु) कर, हे अज्ञानी (अविन्द)।

बीलु अथवा बिल्सु कहते हैं उस माता को जिसने एक बार में दस पुत्रों को जन्म दिया हो। इसका प्रयोग उस कुतिया के प्रति, जो दस पिल्लों को जन्म देती है, होता है। दस इन्द्रियों को जन्मने के कारण ब्रह्मज्वाला को बीलु से सम्बोधित किया गया है। इसी ऋचा को मन्दिर की कल्पना में भी पढ़ाया जाता है।

शरीर आत्मा के यज्ञ से प्रकट होता है। आत्मा रूपी सूर्य का अनुसरण करना ही जीवन के प्रति ईमानदार होना है। इसे ही मन्दिर में पढ़ते हैं। यथा :– पत्थी के जैसा मन्दिर का चबूतरा; शरीर के धड़ के जैसा मन्दिर का गोल कमरा; सिर के जैसा मन्दिर का गुम्बद; जटाओं के जूड़े जैसा गुम्बद के ऊपर का कलश; आत्मा के जैसी प्राण प्रतिष्ठित आराध्य की प्रतिमा; जीव रूपी पुजारी। मन्दिर से बालक निज स्वरूप एवं निज धर्म को अपने प्रति पढ़ते हैं। यही मन्दिर एवं मूर्तिपूजा की आदि कल्पना है।

देवयन्तो यथा मतिमच्छा विदद्वसुं गिरः।

महामनूषत श्रुतम्।। ६/६।।

देवयन्तो, यथा, मतिम्, अच्छा, विदद्, वसुम्, गिरः, महामनु, इषत, श्रुतम्।

आत्मवत आत्मा के सदृश्य (देवयन्तो यथा) हो गया तथा उसकी मति (मतिम्) आत्मा के संग से निर्मल (अच्छा) हो गई। जिसकी विद्वता (विदद्) कर्म की चेष्टा

रूपी अग्नियों (वसुम्) में आत्मा ही व्याप्त हो गया। श्रुतियां (श्रुतम्) कहती हैं वही अनन्त महाकाल (महामनु) की कामना (इषत) को प्राप्त हुआ।

आत्मा ही जिसका सर्वस्व हुआ। आत्मा ही जिसके जीवन का लक्ष्य हुआ। आत्मा के प्रति ही जिसने शरीर एवं इन्द्रियों का प्रयोग आत्मा के निमित्त होकर ही किया। वेद गाते हैं उसे। मात्र वही अनन्त की राह पाया, अनन्त में व्याप्त हो अनन्त हो गया।

इन्द्रेण सं हि दृक्षसे संजग्मानो अबिभ्युषा।
मन्दू समानवर्चसा।। ६/७।।

इन्द्रेण, सं, हि, दृक्षसे, सं, जग्मानो, अबिभ्युषा, मन्दु, समानव्, अर्चसा।

ब्रह्मज्वाला में (इन्द्रेण) संग (सं) ही (हि) निचुड़ (दृक्षसे) गये संग (सं) यजमान सहित (जग्मानो) आचार्य एवं उपाचार्य तभी पूर्ण यज्ञ हुआ। यज्ञ से मोती सदृश्य नया जन्म हुआ (अबिभ्युषा) सबको परमानन्दित (मन्दु) करने वाला तथा मानवों सहित (समानव) सबका वन्दनीय (अर्चसा) अमर जीवन प्रकट हुआ।

यज्ञ की अति विलक्षण परन्तु विशुद्ध कल्पना। यज्ञ की पूर्णता तभी तो हो सकती है जब जीव रूपी यजमान, आचार्य रूपी आत्मा, उपाचार्य रूपी प्राणवायु संग संग सामिग्री सहित यज्ञ की अग्नियों में निचुड़ जायें। तभी तो यज्ञ पूर्ण होगा। तभी तो नवजात शिशु में जीव, आत्मा तथा प्राण तीनों उसे जीवन्त स्वरूप प्रदान कर पावेंगे। यज्ञ की पूर्णता शरीर सहित तीनो आत्मा, प्राणवायु तथा जीव यजमान से ही है। अन्यथा उत्पत्ति अपूर्ण ही रहेगी। तीनो को यज्ञ में व्याप्त होकर नयी सृष्टी को जन्म देना होगा।

अग्नियों में संग संग निचुड़ गये यजमान सहित आत्मा एवं प्राण ! तब हुआ नई सृष्टी का जन्म ! एक अमर जन्म ! यही है यज्ञ की मर्यादा ! ऐसे ही पूर्ण होते यज्ञ प्रत्येक बार ! बारम्बार ! निरन्तर !

अनवद्यैरभिद्युभिरमखः सहस्वदर्चति।
गणैरिन्द्रस्य काम्यैः।। ६/८।।

अनवद्यै, अभिद्युभिः, मखः, सह, स्वः, अर्चति, गणैः, इन्द्रस्य, काम्यै।

जिसे मारा न जा सके (अनवद्यै) अमर निर्धूम रश्मियों का सम्मुख (अभिद्युभिः) करवाने वाला यज्ञ (मखः) है , जो संयुक्त (सह) होकर आत्मा में (स्वः) व्याप्त अर्चन (अर्चति) करता। ऐसा मनुष्य (गणैः) महान अमरत्व (इन्द्रस्य) की कामनाओं (काम्यै) को करता पूर्ण।

विचित्र रहस्य है जो स्पष्ट होता जा रहा है। प्रत्येक ऋचा में जिस यज्ञ की चर्चा है वह यज्ञ तो कोई करता ही नहीं। सम्भवतः जानता ही नहीं। अमर आत्मा की अमर निर्धूम अग्नियों में जो करते स्वयं को अर्पित। होकर यज्ञ ब्रह्मजवाला के यज्ञ में, पूर्ण करते अमर मनोरथ ! वाहय यज्ञ की कहीं चर्चा यज्ञ के रूप में हो ही नहीं रही।

अतः परिज्जमन्ना गहि दिवो वा रोचनादधि।
समस्मिन्नृञ्जते गिरः।। ६/६।।

अतः, परिः, जमन्न, आगहि, दिवो, वा, रोचनात्, अधि, सम्, अस्मिन्, नृञ्जते, गिरः।

अतएव (अतः) व्यापकता से (परिः) जीमने हेतु (जमन्न) हे ब्रह्मज्वाला पधारें (आगहि) प्रकट हों। हममें जो भी देवत्व (दिवो) तथा (वा) ज्योतियां (रोचनात्) हैं उन्हें भी व्यापक (अधि) रूप से जीमें, ग्रहण करें। ऐसे हि (सम्, अस्मिन्) जैसे ज्योतियों का अंजन (नृञ्जते) लेती हैं वाणी की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती !

पहली बार हम जान रहे हैं कि यज्ञ में सामिग्री ही नहीं यजमान को भी सभी प्रकार से यज्ञ होना होता है। यजमान ही अकेला नहीं, आचार्य और उपाचार्य के साथ जीवन के प्रत्येक विचार, भाव, शरीर को सम्पूर्णता से अर्पित होना पड़ता है। जीवन का यह अदभुत समीकरण जब, हम ही न स्पष्ट कर पाये तो इस समीकरण से जीवन के रहस्य खोज पाना कैसे सम्भव होता ? ऐसी अवस्था में इस समीकरण का उपेक्षित होना कोई आश्चर्य की बात नहीं।

इतो वा सातिमीमहे दिवो वा पार्थिवादधि।

इन्द्रं महो वा रजसः।। ६/१०।।

इतो, वा, सातिमीम्, अहे, दिवो, वा, पार्थिवात्, अधि, इन्द्रम्, महो, वा, रजसः।

अबतो (इतो) मृत्यु की वेदना (सातिमीम्) तथा (वा) पुर्नजन्म के सुख (सातिमीम्) के लिये अहो (अहे) जो भी देवत्व (दिवो) अथवा जड़त्व (पार्थिवात्) हममें अधिकृत (अधि) रूप में है। हे महान ब्रह्माग्नि ! (इन्द्रम्) उसे सम्पूर्णता महत्ता (महो) ग्रहण कर भस्म (रजसः) करें। यज्ञ कर उसका उद्धार करें। हम सब यज्ञ को पूर्ण रूपेण मनसा, वाचा, कर्मणा, रोम रोम से अर्पित हैं।

गीत आत्मयज्ञ के !

अनूठी कल्पनातीत राह पर वेद ने हम सबको लाकर खड़ा कर दिया है। सारी मान्यतायें एवं धारणायें; आज तक सारे मान्य विश्वास कांप उठे हैं। विचित्र सी स्थिति बन गयी है। इन्कार कर नहीं सकते, स्वीकार करें भी तो कैसे ? यज्ञ का यह स्वरूप तो कभी सुना ही नहीं था। रूढ़ियां केवल इसके वाहय रूप को ही मनाती रहीं। जबकि भीतर का यज्ञ ही मूल यज्ञ है, किसी को इसका भान भी नहीं था।

राष्ट्रपिता महात्मा गान्धी ने भी लिखा है कि वे वाहय यज्ञ से पूरी तरह सहमत नहीं है। यज्ञ कुछ और ही है, जिससे सृष्टी होती है। काश ! कोई मुझे बता सकता!

इन्द्रमिद् गाथिनो बृहदिन्द्रमकेभिरर्किणः।

इन्द्रं वाणीरनूषत।। ७/१।।

इन्द्रम्, इद्, गाथिनो, बृहद्, इन्द्रम्, अर्क, अभिः, अर्किणः, इन्द्रम्, वाणी, अनु, इषत।

गायें गीत (गाथिनो) इस प्रकार (इद्) महान यज्ञ के (इन्द्रम्) व्यापक रूप से सम्पूर्णता से (बृहद्) यज्ञ महान से (इन्द्रम्) अद्वैत करते चलें। यज्ञ ही आत्मा रूपी महासूर्य (अर्क) का सम्मुख (अभिः) कराने में समर्थ है। ब्रह्मज्वाला ही उसकी किरणें (अर्किणः) हैं। महान यज्ञ की (इन्द्रम्) ज्ञान क्षमता (वाणी) का अनुगमन (अनु) करने की इच्छा (इषत) करें।

महान यज्ञ के गायें गीत बनके यज्ञ के भक्त, करें अनुगमन यज्ञ का जीवन की प्रत्येक राह में। यज्ञ ही आत्मा रूपी सूर्य है। यज्ञ सूर्यो का भी सूर्य है। महान रश्मियों में निरन्तर आत्मस्नान करते रहें। यज्ञ के देव ज्ञान को पाने के लिये सतत

प्रयत्नशील रहें।

इन्द्र इद्धर्योः सचा सम्मिश्ल आ वचोयुजा।
इन्द्रो वज्री हिरण्यः।। ७/२।।

इन्द्र, इद्धर्योः, सचा, सम्, मिश्ल, आ, वचः, युजा, इन्द्रो, वज्री, हिरण्यः।

महान यज्ञ (इन्द्र) इस प्रकार श्रेष्ठता से (इद्धर्योः) जुड़ें आप हमसे (सचा) जैसे आप (सम्) जुड़ते हैं (मिश्ल) घुलमिल जातें हैं तथा जुड़कर (युजा) ग्रह को सूर्य अर्थात जगत आत्मा (वचः) बना कर उसे सुनहरे (हिरण्यः) महान (इन्द्रो) अभेद अमर वज्र (वज्री) के समान बना देते हैं।

हे यज्ञ आप हम में ऐसे ही व्याप्त हों, योग करें, जैसे ग्रह से योग कर आप उसे सूर्य, जगतात्मा बनाकर, सुनहरी ज्योतियों का अमर अजेय अखण्ड वज्र बना देते हैं। यज्ञ के संयोग से हमारा भी वैसा ही उद्धार करें। हमें भी यज्ञ कर ज्योतिर्मय वज्र बना दें। जीवन के रहस्य एवं मर्म बता दें।

इन्द्रो दीर्घाय चक्षस आ सूर्य्यं रोहयद्दिवि।
वि गोभिरद्रिमैरयत्।।७/३।।

इन्द्रो, दीर्घाय, चक्षस, आ, सूर्य्यम्, रोहयद्, दिवि, वि, गोभिः, अद्रिम्, ऐरयत्।

महान यज्ञ (इन्द्रो) आप ही सदा से महान (दीर्घाय) अनन्त काल से दीक्षा गुरू (चक्षस) अर्थात देवगुरू बृहस्पति के समान ही प्रतिष्ठित रहे हैं। जीवन ज्योतियों का आरोहण (आरोहयद्) आप हमारा करते हैं सदा सूर्य की भांति ही दिव्य एवं अति श्रेष्ट (सूर्य्यम्) नित्य निरन्तर, निशि दिन (दिवि) हमें जड़त्व एवं क्षीणता के स्तर से विशिष्ट (वि) ज्योतियों का सम्मुख (गोभिः) करवा कर हमारा उद्धार करते हैं।

हे यज्ञ आप ही आत्मा के रूप में सूर्य हैं। आप ही हमें मृत्यु की क्षीण अवस्था से उद्धार कर हमे यज्ञ की जीवन ज्योतियों से वरद कर दुलर्भ मानव योनि प्रदान करने वाले हैं। आप ही हमारे दीक्षा गुरू हैं। देवगुरू बृहस्पति की भांति हमें विवेक,

बुद्धि से वरद करने वाले हैं। आप ही हमें यज्ञ के गहन रहस्य प्रदान करने वाले तथा यज्ञ की सामर्थ्य प्रदान करने वाले हैं।

चक्षस कहते हैं दीक्षा गुरू को। जो **चक्षु** को खोले वही चक्षस कहलाता है। चक्षु एवं नेत्र यूं तो पर्यायवाची के रूप में प्रयोग किये जाते हैं, परन्तु इनमें सूक्ष्म भेद है। नेत्र आचार्य के विषय हैं। नेत्र वाहय ज्ञान से वरद होते हैं। जबकि चक्षु भीतर का नेत्र है। यह भृकुटि के मध्य में स्थित है। इसे दीक्षा गुरू ही खोलता है। आप इसे अतीन्द्रिय ज्ञान चक्षु भी कह सकते हैं। यही शिव का तीसरा नेत्र भी कहलाता है।

आत्मा ही दीक्षागुरू है। आत्मा ही यज्ञ हैं। आत्मा को ही सूर्य कहा गया है। चक्षु इन्हें आत्मा में ही भीतर देखेगा। नेत्र इनकी यथा प्रतिष्ठा वाहय जगत में करेंगे।

इन्द्र वाजेषु नोऽवसहस्त्रप्रधनेषु च।

उग्र उग्राभिरूतिभिः।। ७/४।।

इन्द्र, वाजेषु, नो, अव, सहस्त्र, प्र, धनेषु, च, उग्र, उग्राभिः, उतिभिः।

महान यज्ञ (इन्द्र) यज्ञ की आहुतियों में सामिग्री के समान (वाजेषु) हमको (नो) ग्रहण कर (अव) तथा हमारी जो सहस्त्र सहस्त्र उपलब्धियां (प्रधनेषु) भी (च) हैं, उन सबको सामिग्रीवत आहुतियों में लेकर भस्म कर दे हे यज्ञ उग्र (उग्र) हो ! उग्रतर (उग्राभिः) हो और महाप्रलय हो जा (उतिभिः) सब ज्योति हो जाये।

आहुतियां बाहर देता हुआ भी याजक यज्ञ कहां कर रहा है ? हे यज्ञ ! आहुति की सामिग्री के रूप में हमें ग्रहण कर। ज्योति बना दें। हमारी सम्पूर्ण उपलब्धियों को सामिग्री सा भस्म कर दे। उग्र हो, उग्रतर हो, महाप्रलय सा प्रचण्ड हो। सबकुछ आहुति बन अर्पित हो जाये। मिटाकर हमें पुनः रूप दे, नया जन्म दे !

इन्द्रं वयं महाधन इन्द्रमर्भे हवामहे।

युजं वृत्रेषु वज्रिणम्।। ७/५।।

इन्द्रम्, वयम्, महाधन, इन्द्रम्, अर्भे, हवाम्, अहे, युजम्, वृत्रेषु, वज्रिणम्।

महान यज्ञ (इन्द्रम्) आप ही हमारे (वयम्) सर्वस्व हैं महाधन हैं (महाधन) हे महान आप ही हमें क्षीणता से (अर्भे) भस्मी से यज्ञों के द्वारा (हवाम्) अहो (अहे) पुनः जीवन्त करने वाले हैं। हमें पुनः युक्त करें (युजम्) ज्योतियों के अमर वज्र से (वज्रिणम्) जिससे नष्ट हो अज्ञान और असत्य के घुमड़ते काले अन्धेरे बादल (वृत्रेषु)। इन बादलों को ज्योतिर्मय वज्र से नष्ट कर हमें आवागमन से मुक्त करें।

हे महान यज्ञ ! आप ही हमारा सर्वस्व हैं। असत्य एवं अज्ञान के वशीभूत होकर हम भौतिक उपलब्धियों एवं विषयों को धन मान बैठते हैं। आप ही महाधन हैं। आप ही हमारे मृत्यु से उद्धारक हैं। आप ही हमें जीवन रहस्यों के विज्ञान तथा सामर्थ्य से युक्त कर हमें अमर अवस्था तथा जीवन के सार्थक अभीष्ट उपलब्ध कराने में समर्थ हैं। हे यज्ञ हमारा उद्धार करें। हम आपकी शरण हैं।

स नो वृषन्नमुं चरूं सत्रादावन्नपावृधि।
असम्भयमप्रतिष्कुतः।। ७/६।।

स, नो, वृषन्, नमुम्, चरूम्, सत्रादात्, अन्न्, अपा, वृधि, अस्मभ्यम्, अप्रतिष्कुतः।

हम (नो) जीवों (स) को उत्पत्ति (वृषन्) यज्ञ के फल स्वरूप (चरूम्) प्रदान करने वाले ! जीवन के सत्रों (सत्रादात्) को प्रदान करने वाले ! अन्न (अन्न्) और जल (अपा) की वृधि (वृधि) करने वाले हे यज्ञ ! हम सबको (अस्मभ्यम्) भी यज्ञ में पुनः व्याप्त (अप्रतिष्कुतः) कीजिये। पुनः अप्रतिष्कृत करके नया जन्म दीजिये।

जिस यज्ञ से अन्न जल की उत्पत्ति है। जिस यज्ञ से ही मानव की उत्पत्ति है। वही यज्ञ उसे जीवन के अन्तिम लक्ष्य तक पहुंचाने में समर्थ है। क्या आप इस सोच को भ्रामक मानेंगे ? यह भी नहीं भूलें कि आप जीवन का एक क्षण अथवा अपने ही शरीर का एक जीवन्त कण भी नहीं बना पाये हैं। केवल यज्ञ ही सचराचर तथा सम्पूर्ण सृष्टियों को उत्पन्न, धारण, वहन तथा पुनः जन्मने में समर्थ है। क्या जीवन पहेली की आदि खोज की यह दिशा स्वयं में महाविज्ञान नहीं है ? क्या यह भी साइंस की एक परिष्कृत धारा नहीं है ? इसे धर्मान्धता की मोहर लगाकर विज्ञान से अलग करना क्या विज्ञान और मानवता के साथ अन्याय नहीं होगा ?

तुञ्जे तुञ्जे य उत्तरे स्तोमा इन्द्रस्य वज्रिणः।

न विन्धे अस्य सुष्टुतिम्।। ७/७।।

तुञ्जे, तुञ्जे, य, उत्तरे, स्तोमा, इन्द्रस्य, वज्रिणः, न, विन्धे, अस्य, सुष्टुतिम्।

निरन्तर आहुतियों में क्षण क्षण (तुञ्जे तुञ्जे) जो (य) ऊपर उठता जाता (उत्तरे) हवन यज्ञ (स्तोमा) होकर ब्रह्मज्वालाओं में (इन्द्रस्य) बनता जाता अभेद वज्र (वज्रिणः) फिर मृत्यु भी उसे परास्त नहीं (न) कर पाती होता वह ऐसा (अस्य) पुष्ट अटल (सुष्टुतिम्)।

इस ऋचा में राह खुल गयी है। आत्मयज्ञ ही अमर राह है। जीव तो यूं भी, शरीर के नाश होने पर मरता नहीं है। नये शरीर को धारण कर फिर जन्म लेता है। जैसे कोई पुराने वस्त्र को उतारकर नया वस्त्र धारण करे। – श्रीमद्भगवतगीता। तब फिर पुष्ट और अमर कौन हो रहा है ?

शतरञ्ज की बिसात पर आप मोहरों से खेल रहे हैं। हाथी, घोड़ा, पैदल, ऊंट, राजा वजीर सब एक ही लकड़ी के बने है। सब अलग अलग चाल चलते हैं। पर क्या वे चल सकते हैं ? जी नहीं ! खिलाड़ी ही चलाता है उनको उनकी खेल की मर्यादा में। खेल में मोहरा मार दिया गया। क्या वह फिर अगले खेल में उसी बिसात पर नहीं आयेगा ? यही हमारा भी आवागमन है। आत्मा ही चलाता हर मोहरे **जीव** को जगत की बिसात पर ! अगली बार फिर उतारेगा नये खेल की बिसात पर। जीवन शतरञ्ज का खेल ही तो है। हां ! परन्तु थोड़ा सा अन्तर है। मोहरा **जीव** चाहे तो खेल में नयी अवस्था ग्रहण कर सकता है। खिलौने की अवस्था से खिलाड़ी की अवस्था को प्राप्त हो सकता है। आत्मा के हाथ में खिलौना बन खेलने वाला आत्मा में यज्ञ होकर आत्मा की खिलाड़ी अवस्था को ग्रहण कर सकता है। फिर उसे मोहरा बना कर कोई खेलेगा नहीं। वह खिलाड़ी बनकर खेलेगा शतरञ्ज स्वयं। **तुञ्जे तुञ्जे य**

वृषा यूथेव वंसगः कृष्टीरियर्त्योजसा।

ईशानो अप्रतिष्कुतः।। ७/८।।

वृषा, यूथेव, वसंगः, कृष्टीरिः, अत्य, ओजसा, ईशानो, अप्रतिष्कुतः।

बछड़ों (वृषा) के झुंडों समूहो (यूथेव) के वंशों की भांति (वंसगः) ग्रहों नक्षत्रों के समूहों को गगन में गुरूत्वाकर्षण (कृष्टीरिः) एवं ऐसे (अत्य) ओज से तेज एवं प्रकाश (ओजसा) से युक्त कर चराने प्रतिष्ठित कराने वाले हे महासूर्य ! हे यज्ञ! (ईशानो) हमें भी यज्ञ में व्याप्त (अप्रतिष्कुतः) कर मिटा कर गगन में सितारों सा ज्योतिर्मय बना कर प्रतिष्ठित कराओ।

बछड़ों के समूहों के वंशों की वृद्धि करने और उन्हें चराने वाले हे आत्मा ! हे श्रीकृष्ण ! तुम्हीं तो बछड़ों की भांति ग्रहों नक्षत्रों के वंशों की वृद्धि करने वाले, उन्हें गुरूत्वाकर्षण तथा ओज से परिपूर्ण कर चराने वाले हैं। हमें भी गगन में इन्हीं की भांति प्रतिष्ठित कराओ। हम जीव भी गगन के टूटे सितारे ही हैं।

य एकश्चर्षणीनां वसुनामिरज्यति।

इन्द्रः पञ्च क्षितिनाम्।। ७/६।।

य, एकः, च, चर्षणीनाम्, वसुनाम्, इरज्यति, इन्द्रः, पञ्च, क्षितिनाम्।

जो (य) एकत्व रूप से एक ही भाव से (एकः) जीवन को धारण एवं यापन केवल यज्ञ अर्थात आत्मा (चर्षणीनाम्) में ही करता है। आत्मा की अग्नियों, ब्रह्मज्वाला (वसुनाम्) में समर्पण, अर्चन, वन्दन एवं व्याप्त (इरज्यति) रहता है सदा। ब्रह्मज्वाला (इन्द्रः) स्वयं उसके पञ्च तत्व के बने शरीर (पञ्च) का उद्धार अनन्त (क्षितिनाम्) में करती हैं।

एकत्व से यज्ञ को अर्पित हुआ। यज्ञ को सर्वस्व बना स्वयं को यज्ञ का निमित्त मान, समर्पित भाव से यज्ञ में ही जीवन को जिया जिसने। उसने पायी जीवन की मंज़िल ! अमर हुआ वह। उसके पञ्च तत्व के घर रूपी शरीर का अमर यज्ञ अग्नियों ने ज्योतियों में उद्धार कर उसे गगनशायी बनाया। अब नहीं भटकेगा वह। खिलौना खिलाड़ी बन गया है। उपासक अब उपास्य हो गया है।

इन्द्रं वो विश्वतस्परि हवामहे जनेभ्यः।

अस्माकमस्तु केवलः।। ७/१०।।

इन्द्रम्, वो, विश्वतस्परि, हवाम्, अहे, जनेभ्यः, अस्माकम्, अस्तु, केवलः।

हे महान यज्ञ (इन्द्रम्) सम्पूर्ण सचराचर को अपने में समेटने वाले (विश्वतस्परि) व्याप्त होने वाले। यज्ञों के (हवाम्) द्वारा सबको सबकुछ प्रदान करने (जनेभ्यः) वाले। अहो (अहे) हम सब भक्तों को (अस्माकम्) वरद करो अस्तु तथास्तु कहो (अस्तु) मात्र। कहो कि तुमने हमें केवल (केवलः) अपने में स्वीकार किया है (अस्तु) व्याप्त कर लिया है। हम अभेद रूप से तुममें हो (अस्तु) गये हैं। योग अन्तिम है।

यज्ञ की राह पर!

वेद में ऋषि बस यही मांग रहा है। धन दौलत नहीं, सुख संसार नहीं, सम्मान मिथ्याभिमान नहीं। विषय वासनायें नहीं। सम्भवतः इसीलिये आधुनिक भाष्यकार इसे स्पष्ट नहीं कर पाये ? पता नहीं क्यों ?

जीवन के रहस्यों को, उसकी निरन्तर हो रही उत्पत्ति के स्थान पर जाकर, उसकी प्रक्रिया में विघ्न न डालते हुये, उसे सूक्ष्मता से जानना, पढ़ना तथा उसकी सामर्थ्य को प्राप्त होकर जीवन को सृष्टा की ऊंचाईयों तक ले जाने का अदभुत महा विज्ञान ही यज्ञ की कल्पना है। गुरूदेव के श्रीमुख से बालक अगला सूक्त ग्रहण करने जा रहे हैं।

एन्द्र सानसिं रयिं सजित्वानं सदासहम्।

वर्षिमूतये भर।। ८/१।।

एन्द्र, सानसिम्, रयिम्, सजित्वानम्, सदासहम्, वर्षिम्, उंतये, भर।

मन रूपी इन्द्र की इन्द्रियों से प्रकट बुद्धि रूपी जीव (एन्द्र) संयुक्त हो अमर रश्मियों से (सानसिम्) अति शीघ्रता से (रयिम्) यज्ञ से, जो नित्य विजय को दिलाने वाला (सजित्वानम्) है तथा तेरा सदा साथ करने वाला (सदासहम्) है। उसकी महानतम (वर्षिम्) रश्मियों (उतये) से, अमर ज्ञान से अपने मन जीवन के घट (भर) ले।

रे जीव ! योग कर यज्ञ स्वरूप आत्मा से, सींच ले जीवन के प्रत्येक क्षण को आत्मा के अमर रस से। वे ही तो तुझे जीवन का दर्शन कराने वाले हैं। प्रति क्षण जिलाने वाला है। जीवन की प्रत्येक राह में तुझे विजयी बनाने वाला है। तेरा सदा साथ करने वाला है। जीवन के मृत्यु की गोद में आते ही सबकुछ लुट जाता है। प्रत्येक

जय, पराजय बनकर रह जाती है। सब संगी साथी छूट जाते हैं। शरीर भी साथ छोड़ देता है। परन्तु यज्ञ फिर भी तेरा साथ देता है। प्रत्येक योनि में, तेरा आत्मा भरतार बन, तुझे फिर जीवन के क्षण दिलाता है। नित्य साथी है तेरा ! उसकी ज्योतियों से जीवन के घट भर ले।

नि येन मुष्टिहत्या नि वृत्रा रूणधामहै।
त्वोतासो न्यर्वता।। ८/२।।

नि, येन, मुष्टिहत्या, नि, वृत्रा, रूणधामहै, त्वोतासो, न्यर्वता।

जिसने अथवा जिसमें व्याप्त होकर (नि येन) आसक्तियों भ्रमों (मुष्ट) असत्य एवं भटकाव का विनाश (हत्या) सम्भव है। तथा जो पापी मुष्टिक (कंस का मल्ल) को मारने वाला है। जो निश्चय ही (नि) अज्ञान के अंधकार (वृत्रा) को धूल धूसरित कर धरती की रक्षा (रूणधामहै) करने वाला है। जो जीव को मरणशील देह अथवा योनि से निजात दिलाकर (त्वोतासो) ज्योतियों के वस्त्र से अलंकृत (न्यर्वता) करने वाला है। जो त्वष्टा के दम्भ का विनाश करने वाला है। ऐसे आत्मा रूपी यज्ञ में सदा के लिये व्याप्त हो जा।

उपरोक्त ऋचाओं के पृष्ठ में अनेकों पौराणिक कथायें संदर्भित है। लीला कथाओं तथा नाटकों के माध्यम से बालकों में वेद के अमृत ज्ञान को बसाने के लिये ही गुरूकुल में इनका सरस प्रयोग व्यापक रूप से था। इसलिये इनकी चर्चा वेदों में भी हुई है। हमारा मूल विषय जीवन पहेली की खोज के आदि कालीन मार्ग अथवा मार्गों को जानना है। इसलिये हम इन्हें यहां पर विस्तार से नहीं ले सकते। हमें अपने मूल उद्धेश्यों को दुहरा लेना चाहिये। जीवन पृथ्वी पर किस प्रकार प्रकट हुआ, जीवन का विस्तार किस प्रकार हुआ ? पृथ्वी, ग्रह, सितारे, नक्षत्र तथा आकाश गंगायें किस प्रकार प्रकट होती हैं ? जीवन क्या है ? उत्पत्ति के रहस्य क्या हैं? मानव किस प्रकार इन रहस्यों को अधिकार में लेकर स्वयं उत्पत्ति पर पूर्णाधिकार प्राप्त कर सकता है।

पाश्चात्य विज्ञान जीवन को धरती पर अमीबा और बैक्टीरिया की उपज मानता है। क्लोनिंग के द्वारा जीवन रहस्यों को खोजने की प्रक्रिया में है। ग्रहों की उत्पत्ति वह धड़ाकों से **बिगबैंग** के रूप में ही व्यक्त करता है। हम इन रहस्यों को आदि प्राचीन वेदादिक ग्रन्थों में खोज रहे हैं। इसलिये केवल शब्दार्थ तक ही सीमित

हैं।

इसके विपरीत वेद के वैज्ञानिक जीवन सूत्रों के रहस्य अपने भीतर खोजते हैं। उनकी मान्यता में जीवन पृथ्वी पर आकाश गंगाओं से विभिन्न चरणों में उतारा गया था। जल भी पृथ्वी पर बाहर से लाया गया था। ग्रह, नक्षत्र, सितारे, आकाश गंगायें तथा क्षीर सागरों की उत्पत्ति प्रकृति के नियम और सिद्धान्तों पर होती है। धड़ाकों से ग्रह नहीं बनते। इसी प्रक्रिया में हम वेद के प्रथम ऋषि के सूक्तों से संक्षिप्त परिचित भर हो रहे हैं।

इन्द्र त्वोतास आ वयं वज्रं घना ददीमहि।
जयेम सं युधि स्पृधः।।

इन्द्र, त्वोतास, आ, वयम्, वज्रम्, घना, ददीमहि, जयेम, सं, युधि, स्पृधः।

हे महान यज्ञ (इन्द्र) सम्पूर्ण भ्रम एवं पीड़ाओं को त्रास (त्वोतास) देने वाले त्वष्टा के पुत्र वृत्रासुर का विनाश करने वाले, वज्र (वज्रम्) को जो अति शक्तिशाली (घना) है। हमें प्रदान करें (ददीमहि) तथा विजय में (जयेम) युध (युधि) की स्पर्धा (स्पृधः) में हमारे से जुड़े (सं) रहें। हमारी रक्षा करें।

जीवन एक महासमर है। आत्मा ही शरीर रथ का सारथि है। मन की इन्द्रियों के ही घोड़े हैं। जीव महारथी अर्जुन है। मायाओं का महासमर महाभारत है। सब के साथ, सदा, प्रत्येक समय, हर ओर ! मृत्यु सामयिक क्षणिक पराजय है। जीवन रहस्यों को जानकर मृत्युञ्जय होना पूर्ण विजय है। वेद की ऋचायें आश्चर्यजनक रूप से वही सबकुछ बता रहीं हैं, जो हम खोजने आये हैं। यह मात्र आरम्भ है। पता नहीं इसका समापन क्या होगा ?

हे महान यज्ञ ! त्वष्टा के पुत्र वृत्रासुर का विनाश करने वाले ! हे ज्योतिर्मय वज्रधारी ! हमें भी ऐसे ही बलशाली वज्र से संयुक्त करें। जय में, युद्ध की स्पर्धा में हमारे साथ हो। जीवन का प्रत्येक क्षण महा संग्राम है।

वयं शूरेभिरस्तृभिरिन्द्र त्वया युजा वयम्।

सासह्याम पृतन्यतः।।

वयम्, शूरेभिः, अस्तृभिः, इन्द्र, त्वया, युजा, वयम्, सासह्याम, पृतन्यतः।

हम (वयम्) शौर्य में (शूरेभिः) अस्त्र शस्त्र के संचालन में (अस्तृभिः) हे महान (इन्द्र) आपके समान आपसे जुड़े हुए (युजा) हम (वयम्) सम्पूर्ण साहस से संयुक्त (सासह्याम) होकर शत्रु सेनाओं का (पृतन्यतः) संहार करें। जीवनजयी हों।

महाँ इन्द्रः परश्चनु महित्वमस्तु वज्रिणे।

द्यौर्न प्रथिना शवः।। ८/५।।

महाँ, इन्द्रः, परः, च, नु, महित्वम्, अस्तु, वज्रिणे, द्यौः, न, प्रथिना, शवः।

हे महान (महाँ) यज्ञ आत्मा (इन्द्रः) पराशक्ति बन (परः) हममें (नु) वास करने वाले तथा (च) हमें अमर अभेद अखण्ड (वज्रिणे) वज्र के समान बनाकर मृत्यु (शवः) से विमुख (न) कर ज्योतिर्मय (द्यौः) अमर (प्रथिना) दिव्य अवस्था प्रदान करें। हम जीवन संग्राम में विजयी हों।

वेद की ऋचायें स्वप्रेरणा (।नजव`नहहमेजपवदे) के रूप में छात्रों के सम्पूर्ण जीवन को सदा बुहारती रहती हैं। उनके स्वभाव को सांसारिकता में मैला होने से बचाती हैं तथा उनके चरित्र तथा संकल्पों को वज्र की सी अभेद अखण्ड सत्ता प्रदान करती हैं। उन्हें गलत राहों पर जाने से रोक लेती हैं।

समोहे वा य आशत नरस्तोकस्य सनितौ।

विप्रासो वा धियायवः।। ८/६।।

समोहे, वा, य, आशत, नरस्तोकस्य, सनितौ, विप्रासो, वा, धिया, यवः।

मोह से संयुक्त (समोहे) जीव को अघाता (आशत) तथा (वा) जब सन्तान की इच्छा हुई और चाहा कि वह सन्तति से (नरस्तोकस्य) वरद हो (सनितौ) तो हे यज्ञ तुमने ही तो नपुंसकों और (वा) बांझों (विप्रासो) को संतति से वरद (धियायवः) किया।

जो शरीर का कोश बनाने में भी समर्थ नहीं वे आपकी कृपा से माता पिता कहलाते हैं।

मोहासक्त थे जब हम, सोचते थे इन्द्रियों अथवा जगत को भोगते हैं, अज्ञानी थे। नहीं जान पाते थे कि आत्मा तथा आत्मा द्वारा प्रदत्त सामर्थ्य को ही आत्म कृपा से भोगते हैं। सन्तान तो दूर हम अपने शरीर का एक कोश भी बनाना नहीं जानते, फिर हमने सन्ताने कब बनायीं थीं ? हे यज्ञ ! हे महान आत्मा ! आप सहृदयता से हमारे असत्य और अज्ञान को क्षमा करते रहे। आप हमारे मिथ्या आचरण और झूठे दम्भ को कृपापूर्वक क्षमा कर जीवन के नये क्षण, नई धड़कने प्रदान करते रहे। आप सचमुच महान हैं।

यः कुक्षिः सोमपातमः समुद्र इव पिन्वते। उर्वीरापो न काकुदः।। ८/७।।

यः, कुक्षिः, सोम, पातमः, समुद्र, इव, पिन्वते, उर्वीः, आपो, न, काकुदः।

जिसने (यः) गर्भ में (कुक्षिः) जीवन ज्योतियों का (सोम) प्रसार पात किया (पातमः) सागर (समुद्र) की भांति (इव) सींचता रहा (पिन्वते) गर्भ को। गर्भ क्षीर सागर बना हम नारायण से प्रकट हुए। वहां न धरती थी (उर्वी) न अन्नादिक भोजन ही था (न) तथा जल (आपो, आपः) पीते कैसे ? कण्ठ भी बन्द था। बनाया किसने ? जिलाया किसने ? सजाया संवारा किसने ? ना मां कर सकती ना ही पिता। फिर कौन ? हे यज्ञ वे आप ही हैं।

जीवन को इस सूक्ष्मता से फिर किसने जाना ? कोरा दम्भ जीने वाला अज्ञानी समाज कभी झांककर भी न देख पाया अपने भीतर। हम सब सत्य के इतने करीब, संग संग, पास पास, साथ साथ, फिर अन्धे धृतराष्ट्र से, गान्धारी की पट्टियां आंखों पर कसे हुए ! बस, विश्वास ही नहीं होता।

एवा ह्यस्य सूनृता विरप्शी गोमती मही।
पक्वा शाखा न दाशुषे।। ८/८।।

एवा, ह्यस्य, सूनृता, विरप्शी, गोमती, मही, पक्वा, शाखा, न, दाशुषे।

उत्पत्ति (सू) को ज्वाला (नृ) यज्ञ करने के लिये (सूनृता) वनस्पतियों के हृदय प्रदेश में (एवा ह्यस्य) प्रकट हुआ इससे पहले भी इस प्रकार (एवाहि अस्य) मंगल यज्ञ हेतु (सूनृता) सम्मोहित हो उठी हमारे (ना) तन की मिट्टी (मही) चिता की राख। होकर सम्मोहित यज्ञ की ज्योतियों में (गोमती। गो = प्रकाश। मती = मती) अर्पित होकर यज्ञ द्वारा पके फल बन (पक्वा) वृक्षों की शाखाओं (शाखा) में यज्ञ होकर (दाशुषे) लहलहा उठी। हम भस्मी से यज्ञ द्वारा वनस्पतियों का रूप पाये। पतन से पावन हुए, दुर्गन्ध से सुगन्ध बन लहलहा उठे। हे यज्ञ ! आप ही कर सके ऐसा।

एवा हि ते विभूतय ऊतये इन्द्र मावते।

सद्यश्चित सन्ति दाशुषे।। ८/६।।

एवा, हि, ते, विभुतय, ऊतये, इन्द्र, मावते, सद्यः, चित, सन्ति, दाशुषे।

जो यूँ इस प्रकार (ऐवा हि) विशिष्ट विभूतियों (विभूतय) के ज्योतिर्मय (ऊतये) महान यज्ञ (इन्द्र) में स्वयं को निरन्तर मथता है (मावते) स्वयं को सामिग्री बना कर आहूत करता (दाशुषे) है। वही नित्य (सद्यः) चित अर्थात मन में (चित) मंगल शान्ति एवं यज्ञ से नित्य अवस्था पाता है।

एवाहि ते काम्या स्तोम उक्थं च शंस्या।

इन्द्राय सोमपीतये।। ८/१०।।

एवाहि, ते, काम्या, स्तोम, उक्थम्, च, शंस्या, इन्द्राय, सोम, पीतये।

इस प्रकार ऐसे ही (एवाहिते) सम्पूर्ण कामनाओं को तृप्त (काम्या) करने वाला यज्ञ (स्तोम) जो वेद का कथन है (उक्थम्) अटल वचन है। जो इसमें स्वयं को अर्पित कर इसे सम्मानित करता (शंस्या) है। जीवन को सम्पूर्णता से यज्ञमय बनाता है, आत्मज्वालाओं के यज्ञ (इन्द्राय) में प्रकट अमृत (सोम) का पान करता (पीतये) सदा के लिये आवागमन से मुक्त होता, अजर अमर देवत्व को प्राप्त हो जाता है।

बालक सूक्त के अमृत को हृदयंगम कर रहे हैं। उनकी शिक्षा के सत्र के पूर्व उन्हें

यज्ञोपवीत के साथ ही इन सूक्तों को मनसा–वाचा–कर्मणा जीवन की राह बनाना है। वे बालक और कोई नहीं, आपके ही पूर्वज हैं। आप उन्हीं के वंशज हैं। क्या आप मुझे बताना चाहेंगे ? आप में कौन सही राह पर है ? आपके पूर्वज अथवा आप सब ? जो शिक्षा को अच्छी नौकरी, मोटी तन्ख्वाह और तगड़ी घूस के लिये ही अपने बच्चों को पढ़ाना चाहते हैं ? जबकि आपके पूर्वज उन्हें उनकी जड़ों के साथ ही जीवन पहेली के रहस्यों का विजेता बनाकर उनके जीवन के हर आंगन को आत्मा की ज्योतियों से जगमगाना चाहते हैं। अभिभावक के रूप में, शिक्षा मंत्री के रूप में, प्रधानमन्त्री और राष्ट्रपति के रूप में, कृपया उत्तर दें। सुना है भारत को आजाद हुए पचास वर्ष बीत गये हैं ? कृपया यह भी स्पष्ट करें कि देश मे फैल रहे भ्रष्टाचार का मूल कारण क्या है ? कहीं आधुनिक शिक्षा ही तो नहीं है?

यदि यही सच है तो भ्रष्टाचार तो आधुनिक शिक्षा की महानतम उपलब्धि है। क्या सचमुच आप इस उपलब्धि को खोना चाहेंगे ? कृपया उत्तर अवश्य दें।

यज्ञ से योग !

यहां आकर हमने बहुत कुछ अमृत ज्ञान उपलब्ध किया है। हमारी खोज की सशक्त दिशा हमने चुनी है। जिस जीवन पहेली की खोज में हम चलें हैं उसका आरम्भ आश्चर्यजनक रूप से फलप्रद रहा है। वेदादिक ग्रन्थों को अधिक गहराई से खंगालने की तीव्र इच्छा हम में करवटे ले रही है। परन्तु हमें अपने उद्धेश्य के प्रति समर्पित होना है। हम फिर लौटेंगे इस अति पावन स्थली पर।

बालक, गुरूदेव की ओर उत्सुक दृष्टि से देख रहे हैं। अमृत गंगा बस प्रवाहित होने को ही है।

इन्द्रेहि मत्स्यन्धसो विश्वेभिः सोमपर्वभिः।
महां अभीष्टिरोजसा।। ६/१।।

इन्द्रेहि, मत्स्यन्धसो, विश्वेभिः, सोम, पर्वभिः, महान्, अभीष्टि, ओजसा।

हे महान यज्ञ (इन्द्रेहि) अन्धी मछली का खेल (मत्स्यन्धसो) जीवन सारा। चाहे हम विश्व के सम्मुख हों (विश्वेभिः) अथवा ज्योतियों की (सोमपर्वभिः) राह पर हों। जिसने इस महान (महान्) सत्य को पा लिया उसने जीवन के अभीष्ट (अभीष्टि) अमर ओज (ओजसा) को पाया।

जीवन जगत मात्र अन्धी मछली का खेल ही है। प्राचीन काल में एक खेल का नाम था। एक लकड़ी के खम्भे पर एक चरखी पर डोरी से एक लकड़ी की मछली बन्धी रहती है। चरखी को तेजी से घुमाते रहते हैं। खम्भे के नीचे एक बड़े कड़ाह में तेल खौलता रहता है। धनुर्धर को तेल में मछली की परछांई देखकर मछली की आंख को बींधना होता है। इसकी चर्चा महाभारत में भी आयी है।

हे यज्ञ महान ! जीवन जगत मात्र अन्धी मछली का खेल ही तो है। सोचता हूं इन्द्रियों को भोगता हूं। विषयों भौतिकताओं को भोगता हूं। जबकि सत्य मात्र इतना ही है कि अपनी ही आत्मा तथा उसकी सामर्थ्य को भोगता हूं। स्वयं भोगा जा रहा हूं। **भोगा न भुक्तः वयमेव भुक्तः।**

साधना की राह पकड़ीं तो भी खेल अन्धी मछली का ही है। मन्दिर में शीश नवाता बाहर हूं पर झुकता तो भीतर आत्मा के सम्मुख हूं। यज्ञ करता तो बाहर हूं पर यज्ञ होता तो भीतर हूं। विपरीत दिशा में यहां भी लक्ष्य का संधान करना है। जो इस रहस्य से भली भांति सुपरिचित होता है। वही जीवन के अभीष्ट को प्राप्त कर पाता है। बाकी सबके बाण तेल के कड़ाह में जाकर व्यर्थ हो जाते हैं।

एमेनं सृजता सुते मन्दिमिन्द्राय मन्दिने।
चक्रिं विश्वानि चक्रये।। ६/२।।

एम् (अम्) एनम्, सृजता, सुते, मन्दिम, इन्द्राय, मन्दिने, चक्रिम्, विश्वानि, चक्रये।

कच्ची अवस्थां (अम्) में पड़े जीवन को इस प्रकार (एनम्) उत्पन्न किया (सृजता) सृजन किया निचोड़ कर (सुते) आत्म ज्योतियों (मन्दिम) में तुमने हे यज्ञ (इन्द्राय) और ज्योतिर्मय जीवन (मन्दिने) में प्रकट जीवन्त कर दिखाया। जीवन और मरण के सचराचर (विश्वानि) के चक्रों (चक्रिम्) आप चलाती हैं निरन्तर जिससे चलते चक्र (चक्रये) आवागमन के। पतन पाते उद्धार ! बारम्बार ! धरा की धूल के कण, छू लेते आकाश !

मत्स्वा सुशिप्र मन्दिभिः स्तोमेभिर्विश्वचर्षणे।
सचैषु सवनेष्वा।। ६/३।।

मत्स्वा, सुशिप्र, मन्दिभिः, स्तोमेभिः, विश्व, चर्षणे, सचैषु, सवनेष्वा।

स्वमस्तः आत्मा में मस्त (मत्स्वा) दिव्य मंगल को करने वाली (सुशिप्र) ज्योतियों का सम्मुख कराने वाली (मन्दिभिः) यज्ञों में (स्तोमेभिः) सचराचर के (विश्व) सामिग्री का भक्षण (चर्षणे) करने वाली हे महाज्वाला ! संयुक्त हो उनसे (सचैषु) जो यज्ञ को अर्पित होने के लिये पवित्र स्नान (सवन) लेकर समर्पित हैं (सवनेष्वा)।

हे आत्ममस्ता ! हे यज्ञ की ब्रह्मज्वाला ! दिव्य मंगल कारिणी ! ज्योतिमयी ! यज्ञों द्वारा विश्व का वहन, धारण एवं सामिग्रीवत भक्षण करने वाली ! हमें भी अपनी ज्वालाओं के गर्भ में ग्रहण कर कल्याण करो।

असृग्रमिन्द्र ते गिरः प्रति त्वामुदहासत।
अजोषा वृषभं पतिम्।। ६/४।।

अ, सृ, ग्रम, इन्द्र, ते, गिरः, प्रति, त्वा, मुदहासत, अजोषा, वृषभम्, पतिम्।

रहित (अ) हुआ उत्पत्ति (सृ) अर्थात उत्पत्ति से रहित (असृ) हुआ विष (ग्रम) हे यज्ञ (इन्द्र) जो (ते) तुम्हारी जिह्वा (गिरः) पर आया। विष करने के प्रत्युत्तर में (प्रति) तुमने (त्वा) सचराचर को माद मंगल एवं आनन्द (मुदहासत) प्रदान किया। तुम्हारी इस कथा को नित्य अमर (अजोषा) किया बैल पर आरूढ़ (वृषभम्) वृषभकेतु महाशिव (पतिम्, वृषभं पतिम्) ने विष पान कर, क्षीर सागर मंथन के समय।

हे यज्ञ। आप करते विनाश उस विष का जो गिरता आप की अग्नियों में। प्रत्युत्तर में बन अमृत सचराचर को माद मंगल एवं आनन्द प्रदान करता। पतन हो जाता पावन ! आप कहलाते पतित पावन ! समाज के त्याज्य विष (मलादि) को ब्रह्मज्वालायें लौटाती अन्न वनस्पतियों में। विष निरन्तर यज्ञ के द्वारा अमृत होते, सचराचर के सुख का कार

सं चोदय चित्रमर्वाग् राध इन्द्र वरेण्यम्।
असदित् ते विभु प्रभु।। ६/५।।

सं, चोदय, चित्रम्, अर्वाग्, राध, इन्द्र, वरेण्यम्, असत्, इत्, ते, विभु, प्रभु।

संयुक्त (सं) प्रकाशित कर, हवन करें (चोदय) सम्पूर्ण सगुण साकार, शरीर (चित्रम्) जो क्षीण होने वाला तथा क्षण भंगुर (अर्वाग्) उसे ज्वालाओं में , ज्योतियों में गूंथ कर (राध) हे महान यज्ञ (इन्द्र) आप उसका वरण करें (वरेण्यम्) जो अनित्य है, मरण शील (असत्) है उसे इस (इत्) भांति से (ते) विशिष्ट विभूतियों (विभू) में प्रकट कर अपने सदृश्य, अमर ईश्वर (प्रभु) बने, पिता के अनुरूप हों, पिता को

सम्मानित करें।

जीवन पहेली के उत्तर हमें प्रथम ऋषि में ही प्राप्त हो रहे हैं। रहस्य परत दर परत खुलते जा रहे हैं। ऋषि यज्ञ से कुछ भी नया करने को नहीं कह रहा है। जो यज्ञ निरन्तर हर ओर कर रहा है। बस वही दुहराने के लिये कह रहा है। असत् अर्थात जड़ प्रकृति को यज्ञ निरन्तर चैतन्य वनस्पतियों में प्रकट कर रहा है। वनस्पतियों को जीवन्त शरीरों में निरन्तर प्रकट कर रहा है। इसी यज्ञ को दुहराने की बात कर रहा है। अपने परमेश्वर पिता के अनुरूप होने की कामना कर रहा है। पुत्र पिता का प्रतिरूप ही होना चाहिये। इसमें कुछ भी तो अनुचित नहीं है।

अस्मान्त्सु तत्र चोदयेन्द्र राये रभस्वतः।
तुविद्युम्न यशस्वतः।। ६/६।।

अस्मान्, त्सु, तत्र, चोदय, इन्द्र, राये, रभस्वतः, तु, विद्युम्न, यशस्वतः।

हम सबको (अस्मान्) उत्पत्ति के लिये (त्सु) वहां पर (तत्र) यज्ञ करें (चोदय) हे महान यज्ञ (इन्द्र) शीघ्रता से जाकर (राये) आहुतियों में अर्पित करें (रभस्वतः) तथा (तु) विशिष्ट ज्योतियों में (विद्युम्न) जन्म देकर हम सबको महा यशस्वी (यशस्वतः) बनावें। हम भी अपने सृष्टा पिता की भांति सृष्टी के ज्ञान तथा सामर्थ्य से वरद होकर अपने पिता के यशस्वी पुत्र बने। पिता का अनुसरण करें।

सं गोमदिन्द्र वाजवदस्मे पृथु श्रवो बृहत्।
विश्वायुर्धेह्यक्षितम्।। ६/७।।

सं, गोमद, इन्द्र, वाजवदस्मे, पृथु, श्रवो, बृहत्, विश्वायुः, धेहि, अक्षितम्।

संयुक्त करें (सं) ज्योति (गो) की मस्ती (मद) से हे महान यज्ञ (इन्द्र) सामिग्रीयों, आहूतियों (वाजव) को भस्म करने वाले (दस्मे) हे अग्नि, हे विष्णु, हे शिव (पृथु) उत्पत्ति (श्रवो) को व्यापक रूप से हर ओर निरन्तर धारण करने वाले, हे महान यज्ञ (बृहत्) हम सबको नित्य (वि+श्व = विश्व) आयु (विश्वायु) प्रदान करें (धेहि) कभी नहीं क्षय होने वाली (अक्षितम्) अनन्त आयु हों हम सब।

अस्मे धेहि श्रवो बृहद् द्युम्नं सहस्त्रसातमम्।

इन्द्र ता रथिनीरिषः।। ६/८।।

अस्मे, धेहि, श्रवो, बृहद्, द्युम्नम्, सहस्त्र, सातमम्, इन्द्र, ता, रथिनीः, इषः।

हम सबको (अस्मे) प्रदान करें (धेहि) उत्पत्ति का ज्ञान (श्रवो) महान (बृहद्) व्यापक रूप से हे कौंधती बिजलियों (द्युम्नम्) के सहस्त्र (सहस्त्र) सहस्त्र सुखों को प्रदान करें (सातमम्) हे महान यज्ञ (इन्द्र) आप ही (ता) हमारे शरीरों एवं जीवन के(रथिनीः) के ईश्वर हैं (इषः)।

वसोरिन्द्रं वसुपतिं गीर्भिर्गृणन्त ऋग्मियम्।

होम गन्तारमूतये।। ६/६।।

वसोः, इन्द्रम्, वसु, पतिम्, गीर्भिः, गृणन्त, ऋग्मियम्, होम, गन्तारम्, उतये।

हम सब में वास करें (वसोः) हे महान यज्ञ (इन्द्रम्) हे अग्नियों (वसु) के अधिपति (पतिम्) देव ज्ञान (गीर्भि) सृष्टी ज्ञान से परिपूर्ण तथा प्रदान करने वाले (गृणन्त) ऋग्वेद अर्थात आत्म वेद के परम ज्ञाता (ऋग्मियम्) हे यज्ञ हमें हवन (होम) करें एवं ज्योतियों की (उतये) अमर राह अमर गति (गन्तारम्) प्रदान करें।

गीर्भि, गीर्वाण देवगुरू बृहस्पति के नाम हैं। इन्हें ही चक्षस अर्थात दीक्षागुरू का पद प्राप्त है। वेद में यज्ञ को ही यह सम्मान प्रदान किया गया है। यज्ञ को ही सृष्टा के सम्मान से सुशोभित किया गया है। वाहय यज्ञ जिसे हम अबतक मूल समझ रहे थे, उसे वेद ने यज्ञ के रूप में नहीं लिया है। आत्मा को ही यज्ञ का स्वरूप प्रदान किया गया है। वाहय यज्ञ मूल आत्म यज्ञ में प्रवेश की योग्यता प्रदान करता है। मूल यज्ञ से पूर्व का महास्नान है। इसी प्रकार मन्दिर भी मेरे आत्मदर्शन की पवित्र स्थली है। अन्यथा मूल मन्दिर मेरा शरीर है। जिसे स्वयं प्रभु बनाते हैं। वाहय मन्दिर पुनः मेरे मन विचारों का महास्नान है। यहां से पवित्र होकर ही मैं परमेश्वर के बनाये अतिशय पवित्र मन्दिर अर्थात अपनी देह में प्रवेश पा सकता हूँ। हमारी बहुत सी धारणायें एवं मान्यतायें यहां आकर निर्मूल सिद्ध हुई हैं।

सुते सुते न्योकसे बृहद् बृहत एदरिः।

इन्द्राय शूषमर्चति।। ६/१०।।

सुते, सुते, न्योकसे, बृहद्, बृहत, एदरिः, इन्द्राय, शूषम्, अर्चति।

निचुड़ गये जो बन समिधा बन सामिग्री (सुते) उनको उत्पन्न करो (सुते) हे दिव्य धाम की स्वामिनी (न्योकसे) प्रलयंकर हो (बृहद्) हे सचराचर में सर्वत्र व्याप्त महान (बृहत) समिधा एवं सांकल्य का सम्पूर्ण विनाश करने वाली ज्वाला (एदरि) महान यज्ञ के लिये (इन्द्राय) महान अग्नियों में हमें उत्पन्न (शूषम्) करने की हम सब आपसे प्रार्थना (अर्चति) करते हैं।

हमें यज्ञ करो ! हम सब यज्ञ में मनसा वाचा कर्मणा अर्पित हैं। यज्ञ में हमें सामिग्री के सदृश्य निचोड़ कर हमें यज्ञ के द्वारा पुनः उत्पन्न करो। हमें योग द्वारा उत्पत्ति को प्राप्त कराओ। जहां जीव एवं आत्मा तथा प्राणवायु सदा के लिये एक होकर जन्मते हैं। योग सृष्टि को प्रकट करो।

जीवन पहेली के सूत्रों को अपने भीतर निरन्तर हो रही उत्पत्ति में खोजने की आदि प्राचीन कल्पना हमारे सामने है। जो मुझमें हो रहा है, वही सचराचर में भी हो रहा है। **यत् पिन्डे तत् ब्रह्माण्डे !**

एक दबी दबी सी मर्माहत पीड़ा की कसक भी, कहीं छिपी छिपी सी, हमें इन सूक्तों में फिर फिर छू जाती है। धरती पर जीवन, जल, उत्पत्ति देने वाली संस्कृति सभ्यता को केवल अपने भीतर ही क्यों सीमित होना पड़ा। जो सुदूर आकाशगंगाओं से जीवन को धरा पर लाने में समर्थ हुए। जिन्होंने ग्रहों की कक्षाओं को जीवन के हित बदल कर उन्हें पुनः स्थापित किया। जिन्होने जल को धरा पर अवतरित किया, वे केवल आत्मा में ही क्यों उत्तर खोजने पर विवश हो गये ?

इसका उत्तर सम्भवतः वही है जिसकी चर्चा हम प्रथम खण्ड के कर चुके हैं। धूर्मकेतु के धरती पर उल्कापात होने से पृथ्वी पर प्रलय का भयंकर ताण्डव होने लगा। हिम ग्लेशियर तेजी से पिघलने लगे। जीवन अभी पूरी तरह से पृथ्वी पर स्थापित हो भी न पाया था, उसे त्रासदी का सामना करना पड़ गया। मैदान सागर बन गये। भूमण्डल नाना टुकड़ों में बंटने लगा। द्वीप प्रकट होने लगे। ज्ञान

विज्ञान, जिसके साथ मानव ने धरा पर कदम रखे थे, सब जल में डूब कर ध्वस्त हो गया। भयंकर विनाश लीला ने मानव को मूक पंगु बना दिया। आकाशगंगाओं से आवागमन तथा संचार की सारी व्यवस्थायें जलमग्न होकर सदा के लिये ध्वस्त हो गयीं। संवाद के साधन भी समाप्त हो गये।

यह सब ऐसे समय में हुआ जब पृथ्वी तेजी से सूर्यपरिवार के साथ अन्ध क्षीरसागर की ओर बढ़ती आकाश गंगाओं के ज्योतिमर्य आकाश से निरन्तर दूर हो रही थी। मानव हताश खड़ा अपने अस्तित्व के लिये चिन्तित था। संवादहीनता ने आकाशगंगाओं को भी सम्भवतः यह मानने पर विवश कर दिया हो कि उनके बसाये मानव उस त्रासदी में समाप्त हो गये। इसीलिये सूचना नहीं प्राप्त हो पा रही है। उन्होने समीप होकर भी सूचना लेनी चाही हो परन्तु ध्वस्त हो चुकी सूचना प्रणाली तथा व्यापक जन विनाश के कारण पृथ्वीवासी उत्तर न दे पाये हों ? ऐसी अवस्था में आत्मा ही एक रास्ता बाकी रह जाता है। आत्मा से आत्मा को राह होती है।

अन्तिम आहुति

हम दशम सूक्त में प्रवेश करने जा रहे हैं। इस सूक्त में मधुच्छन्दा ऋषि ने श्रीकृष्ण की यज्ञ अर्थात आत्मा के रूप में स्तुति वन्दन कर अन्तिम आहुति प्रदान की तथा उसी के साथ ही वे शरीर से ज्योति बन अलग होते अनन्त में विलीन हो गये। ग्यारहवां सूक्त जेता माधुच्छन्दसों द्वारा गाया गया। इसमें उन्होने ऋषि मधुच्छन्दा को श्रद्धान्जली अर्पित की। जागेश्वर में प्रवेश करते ही बायें हाथ पर तीसरे शिवलिंग के नीचे मधुच्छन्दा के पार्थिव को स्वयं श्रीकृष्ण ने समाधिस्थ किया था। तब से आज तक गुरु मन्त्र के रूप में वेद के प्रथम ऋषि को लेने की अनिवार्यता सर्वत्र रही है। इसको ग्रहण न करने से यज्ञोपवीत का कोई अर्थ नहीं रह जाता।

गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः।
ब्रह्माणस्त्वा शतक्रत उद्वंशमिव येमिरे।। १०/१।।

गायन्ति, त्वा, गायत्रिणो, अर्चन्त्य, अर्किम्, अर्किणः, ब्रह्माणः, त्वा, शतक्रत, उद्वंशम्, इव, येमिरे।

गाती हैं (गायन्ति) तुमको (त्वा) हे यज्ञ सम्पूर्ण गायत्रियां (गायत्रिणो) अर्चना पूजा करते (अर्चन्त्य) सूर्यो (अर्किम्) के भी सूर्य (अर्किणः) ब्रह्मा हो (ब्रह्माणः) तुम (त्वा) तुम ही प्रलयंकर महाशिव (शतक्रत) वंशों का (उद्वंशम्) उद्धार विस्तार करने वाले इस भांति (इव) महाविष्णु (येमिरे) हो तुम।

हे यज्ञ ! सचराचर को उत्पन्न, धारण तथा उपलब्धियों से परिपूर्ण करने वाले मात्र आप ही हैं। आप ही ब्रह्मा हैं, आप ही महाशिव हैं तथा आप ही महाविष्णु हैं। आपको हम सब प्रणाम करते हैं। आप ही हमारी राह हैं। जीवन का मात्र लक्ष्य हैं।

यत्सानोः सानुमारूहद् भूर्यस्पष्ट कर्त्वम्।

तदिन्द्रो अर्थ चेतति यूथेन वृष्णिरेजति।। १०/२।।

यतसानोः, सानुम्, आरोहयत्, भूर्य, स्पष्ट, कर्त्वम्, तत्, इन्द्रो, अर्थम्, चेतति, यूथेन, वृष्णिः, ऐजति।

जिसप्रकार (यत्) पर्वतों के ऊपर (सानोः) सूर्यदेव (सानुम्) आरोहण करते (आरोयत्) श्रेष्ठ उत्पत्ति (भूर्य) प्रकट करने (स्पष्ट) के कर्त्तव्य में संलग्न होते हैं (कर्त्वम्) उसी प्रकार (तत्) हे महान यज्ञ, आत्मा, श्रीकृष्ण आप उन्हीं अर्थो में (अर्थम्) जीवन की धाराओं को, सृष्टियों को चैतन्य करते (चेतति) हुये जीवन्त समूहों (यूथेन) को नित्य सृष्टि की (वृष्णिः) सामर्थ्य से संयुक्त कर अमरता (ऐजति) से वरद करते हैं।

सूर्य के गगन पर आरोहण करते ही पर्वताकार अन्धेरे नष्ट हो जाते हैं। हर ओर नूतन सृष्टि का मंगल कोलाहल व्याप्त हो जाता है। जीवन की चमक सूर्य के प्रकाश में झिलमिलाने लगती है। उसी प्रकार जो पा जाते प्रवेश आत्मा के यज्ञ अर्थात घटघटवासी आत्मा श्रीकृष्ण में, होकर आत्मज्वालाओं में यज्ञ, पाते अमर राह ओर अनन्त सुख। सृष्टि के नित्य ज्ञान से वरद होकर जीवन के गूढ़ रहस्यों का करते अनावरण, देवत्व में करते वास !

मनुष्य को प्रकृति एवं पुरूष (परमेश्वर) ने तीन विशेष बलों से संयुक्त किया है। देहबल, मनोबल तथा आत्मबल ! जब मनुष्य इनसे अपरिचित होता है तो वह एक पंगु के समान वाहय उपलब्धियों की वैसाखियों का सहारा खोजता फिरता है। चिन्ता तथा तनाव भरी, दुखद सड़ी हुई जिन्दगी जीने पर विवश हो जाता है। हीन भावनाओं से बचने के लिये झूठे दम्भ, मिथ्याभिमान एवं कुतर्को की आड़ में स्वयं को धोखा देने में लगा रहता है।

जब अपने देहबल को जागृत करता मनोबल को जगाने आत्मा और अध्यात्म मार्ग का अनुसरण करता आत्मबल का सामीप्य पा लेता है। वह स्वयं में विश्वव्यापी सत्ता बन अनन्त की राह पा जाता है। उसे फिर किसी भौतिक वैसाखी की जरूरत नहीं होती।

युक्ष्वा हि केशिना हरी वृषणा कक्ष्यप्रा।

अथा नः इन्द्र सोमपा गिरामुपश्रुतिं चर।। १०/३।।

युक्ष्वा, हि, केशिना, हरी, वृषणा, कक्ष्यप्रा, अथा, नः, इन्द्र, सोमपा, गिराम्, उप, श्रुतिम्, चर।

आत्मा में मस्त, आत्म मस्ती से संयुक्त (युक्ष्वा हि) सांसारिकता के भटकावों, विषय वासनाओं, लिप्साओं (केशिना) का नाश करते हुए (हरी) उत्पत्ति में समर्थ (वृषणा) ब्रह्मज्वालाओं के घर अर्थात आत्मकुण्ड (कक्ष्यप्रा) में प्रवेश करके आरम्भ करें (अथा) हम सब (नः) महान यज्ञ (इन्द्र) में सोम अमृत का पान (सोमपा) व्याप्त होकर (उप) अमर होकर वेदों की बतायी (श्रुतिम्) राह लें (चर)।

हे गोविन्द ! हे जगतात्मा ! जो आप में मस्त हुआ, उसी ने खोला अन्तरात्मा का द्वार ! आप में स्थित हो बढ़ाये देह और मनोबल ! आत्मबल में मस्त होकर उसने भी मारा केशिन रूपी दैत्य को आपकी ही भांति ! उसे मिला आत्मज्वालाओं के घर में प्रवेश ! पान कर सोम ज्योतियों का वह हुआ अजर अमर !

एहि स्तोमा अभि स्वराभि गृणीह्या रूव।

ब्रह्म च नो वसो सचेन्द्र यज्ञं च वर्धय।। १०/४।।

एहि, स्तोमा, अभि, स्वर, अभि, गृणीह्य, आरूव, ब्रह्म, च, नो, वसो, सच, इन्द्र, यज्ञम्, च, वर्धय।

यही, इसी (एहि) हवन स्तुति (स्तोमा) के सम्मुख (अभि) होकर इसे जीवन के स्वर (स्वर) प्रदान कर अर्थात स्वयं को इसके सम्मुख (अभि) सदा रखते हुए, ग्रहण (गृणीह्य) करते हुए आरोहण (आरूव) कर। यज्ञ ही स्तुति है, यज्ञ ही जीवन का स्वर (प्राण) हैं यज्ञ का ही आरोहण है। आत्मा (ब्रह्म) में हम सब (नो) बसे (वसो) तथा ब्रह्म हममें बसा है। तथा (च) महान (इन्द्र) अग्नियों से संयुक्त होकर (सच) हमें यज्ञ (यज्ञम्) में ढलते हुए तथा (च) जन्मते उत्थान (वर्धय) को प्राप्त होना है।

इसी यज्ञ को जीवन का लक्ष्य बनायें। इसे ही अपने स्वर प्राण अर्पित करें। सदा सम्मुख रहें यज्ञ के हवन अर्पित होते रहें। जलते रहें बन कर आहूतियां। सदा

बसे रहें यज्ञ में और पायें अमर उत्थान !

उक्थमिन्द्राय शंस्यं वर्धनं पुरूनिषिधे।

शक्रो यथा सुतेषु णो रारणत् सख्येषु च।। १०/५।।

उक्थम्, इन्द्राय, शंस्यम्, वर्धनम्, पुरूनिषिधे, शक्रो, यथा, सुतेषुणो, रारणत्, सख्येषु, च।

प्रशंसा एव प्रतिष्ठा (शंस्यम्) करें महान यज्ञ (इन्द्राय) की ब्रह्मज्वालाओं (उक्थम्) की जो हमारे उत्थान (वर्धनम्) का मूल हैं तथा व्यापक रूप से, हर ओर से, सभी प्रकार से हमारी पीड़ाओं एवं अज्ञान तथा मृत्यु का शमन (पुरूनिषिधे) करने वाली हैं। जिस प्रकार (यथा) देवेन्द्र के वज्र में (शक्रो) बिजलियां बन मेघों की भांति शत्रुओं, असुरों का संहार करती हैं, उसी प्रकार वे हमारी आत्मसखा बन (सख्येषु) हमारे मन में व्याप्त असुरत्व से त्राण दिलाते (पुरूनिषिधे) हुए इन ब्रह्मज्वालाओं के संग्राम में (रारणत्) हमें निचोड़ कर (सुतेषुणो)[८] पुनः पुत्रवत उत्पन्न करें।

जिस प्रकार युद्ध में अपने सखा के सारथि बन तुम उसकी सब ओर से रक्षा करते हुए विजय दिलाते, आज हे गोविन्द ! हे आत्मा ! इस आत्म यज्ञ में हमें विजय दिलवायें। यज्ञ के संग्राम में हम आपकी ब्रह्मज्वालाओं के वज्र से संयुक्त हों। निचोड़ कर स्वयं को अग्नियों में अमर ज्योतियों के रूप में नया जन्म पायें। आपके पुत्र होने की शोभा पायें।

तमित्सखित्व ईमहे तं राये तं सुवीर्ये।

स शक्र उत नः शकदिन्द्रो वसु दयमानः।। १०/६।।

तम्, इत्, सखित्व, ईमहे, तम्, राये, तम्, सुवीर्ये, स, शक्र, उत, नः, शकत्, इन्द्रो, वसु, दयमानः।

तुम (तम्) ही मात्र (इत्) मर्यादा हो सखः भाव (सखित्व) की, प्रकाशस्तम्भ (इमहे) अन्धेरी राहों के, तुम (तम्) ही गति, गन्तव्य, जीवन का प्रत्येक क्षण (राये) हो, तुम (तम्) ही शौर्य (सुवीर्ये) हो जीव (स) मात्र के, अभेद अखण्ड शक्ति (शक्र) हो हमारी (नः) और (उत) यज्ञ को तड़ित ज्योतियों (शकत्) से अटल एवं महान (इन्द्रो)

बनाने वाले अग्नि (वसु) हे दयामय (दयमानः) आप ही हैं।

हे आत्मा ! हे यज्ञ ! हे कृष्ण ! जीव मात्र के सखा केवल आप हैं। आप ही आवागमन के अन्धेरों में प्रकाश बन, जीव मात्र का उद्धार करने वाले हैं। आप ही जीव की गति, गन्तव्य एवं अभिव्यक्ति हैं। आप ही शौर्य एव शक्ति हैं। हे दयामय! आप ही सचराचर के मात्र उद्धारक हैं।

सुविवृतं सुनिरजमिन्द्र त्वादातमिद्यशः।
गवामप व्रजं वृधि कृणुष्व राधो अद्रिवः।। १०/७।।

सुविवृतम्, सु, निः, अजम्, इन्द्र, त्वा, दातम्, इद्, यशः, गवाम्, अप, व्रजम्, वृधि, कृणुष्व, राधो, अद्रिवः।

दिव्य योनियों को प्रदान करने वाले (सुविवृतम्) दिव्य (सु) निहित (निः) अमर अजन्मा (अजम्) यज्ञ (इन्द्र) तुम (त्वा) दाता हैं (दातम्) ऐसे (इद्) महान यश (यशः) को प्रदान करने वाले। हे गोविन्द ! आप ही गौओं तथा गौओं की भांति (गवामप) ग्रहों एवं नक्षत्रों के घरों (व्रजम्) की निरन्तर वृधि (वृधि) करने वाले (कृणुष्व) हैं तथा आप ही गोवर्धन पर्वत के समान (अद्रिवः = अद्रि = पर्वत। वः = वहन करने वाले) सचराचर (राधो) को वहन करने वाले हैं।

हे यज्ञ ! आप ही मोक्षदाता हैं। आप ही जीव को अजर अमर अवस्था प्रदान करने वाले हैं। आप ही दाता हैं, अमर यश को प्रदान करने वाले हैं। आप जिस प्रकार धरती पर गोवंश की वृद्धि करने वाले हैं, उसी प्रकार आकाश में ग्रहों, नक्षत्रों तथा अकाश गंगाओं का विस्तार करने वाले भी मात्र आप ही हैं। हे राधा नाथ ! आप ही सम्पूर्ण ज्योतियों (राधा) के सृष्टा एवं स्वामी हैं।

नहि त्वा रोदसी उभे ऋघायमाणमिन्वतः।
जेषः स्वर्वतीरपः सं गा अस्मभ्यं धूनुहि।। १०/८।।

नहि, त्वा, रोदसी, उभे, ऋघायमाणम, इन्वतः, जेषः, स्वरवतीः, अपः, सं, गा, अस्मभ्यम्, धूनुहि।

नहीं आच्छादित कर पाते (नहि) तुमको (त्वा) मिलकर सारे (उभे) अणुमात्र भी (ऋघायमाणम्) ग्रह, नक्षत्र, सितारे, आकाश एवं सम्पूर्ण ज्योतियां (इन्वतः) जायें हम, गमन करें (जेषः) आत्मव्रती होकर (स्वरवतीः = स्वः + वतीः) पान करें अमृत जल (अपः) संयुक्त होकर (सं) मन, बुद्धि एवं प्राणों सहित गायें (गा) हम सब (अस्मभ्यम्) त्राहिमाम् (धूनुहि)।

हे आत्मा ! हे कृष्ण ! हे यज्ञ महान ! तुम्हें नहीं ढक पाते ग्रह, नक्षत्र, सितारे, आकाश गंगायें और आकाश ज्योतियां सब मिलकर भी। हे गोविन्द ! वे सब आपको अणु मात्र भी तो नहीं भर पाते। आप असीम हैं। आपकी सीमाओं को कोई भी नहीं पा सकता। आप अनन्त हैं, अथाह हैं। हम सब आपके प्रति अर्पित हों। आत्मव्रती हों। मन, बुद्धि प्राणों सहित आपको ही गायें, आपका ही चिन्तन अनुसरण करें, आप में ही समा जायें। आप ही हमारा वहन एवं उद्धार करें। हे श्रीकृष्ण ! त्राहिमाम्!

आश्रुत्कर्ण श्रुधी हवं नू चिद्दधिष्व मे गिरः।
इन्द्र स्तोममिमं मम कृष्वा युजश्चिदन्तरम्।।१०/९।।

आ, श्रुत्कर्ण, श्रुधी, हवम्, नू, चित्, दधिष्व, मे, गिरः, इन्द्र, स्तोमम्, इमम्, मम, कृष्वा, युजः, चित, अनन्तरम्।

आवाहन (आ) है आपका हे श्रुतियों को सुनने वाले (श्रुत्कर्ण) महाविष्णु ! वेदों, श्रुतियों द्वारा धारण एवं स्थापित (श्रुधी) यज्ञ (हवम्) में (नू) मेरे मन (चित्) को क्षीर सागर में (दधिष्व) वाणी एवं स्तुति (गिरः) सहित मुझे (मे) धारण करें। हे यज्ञ महान (इन्द्र) इस यज्ञ में (स्तोमम्) इस भांति (इमम्) आप मुझे (मम) सदेह भस्म कीजिये (कृष्वा) अब मधुच्छन्दा जुड़ जाये, योग हो (युजः) आपसे और चित (चित) अनन्त में व्याप्त हो जाये। हे गोविन्द ! मधुच्छन्दा यज्ञ होकर क्षीरसागर में अनन्त में व्याप्त होकर अनन्त हो जाये। शरीर यज्ञ में भस्म हो।

विद्मा हि त्वा वृषन्तमं वाजेषु हवनश्रुतम्।

वृषन्तमस्य हूमह ऊतिं सहस्रसातमाम्।। १०/१०।।

विद्मा, हि, त्वा, वृषन्तमम्, वाजेषु, हवन, श्रुतम्, वृषन्तम्, अस्य, हूमह, ऊतिम्, सहस्र, सातमाम्।

सचराचर की सृष्टी के ज्योतिर्मय ज्ञान को धारण करने वाले (विद्मा) मात्र अकेले (हि) हो तुम (त्वा) यज्ञ करो मुझे (वृषन्त मम्) हव्य सामिग्री (वाजेषु) में हवन हो (हवन) उत्पत्ति श्रुति (श्रुतम्) सृष्टि (वृषन्तम्) हो ऐसी (अस्य) अमर अनन्त (हूमह) और महान ज्योतियों (ऊतिम्) में जो सहस्त्र (सहस्त्र) सुखों (सातमाम्) को प्रदान करने वाली हैं। हे गोविन्द आप ही मात्र समर्थ हैं।

आ तू न इन्द्र कौशिक मन्दसानः सुतं पिब।

यमायु प्र सू तिर कृधि सहस्त्रसामृषिम्।। १०/११।।

आ, तू, नः, इन्द्र, कौशिक, मन्दसानः, सुतम्, पिब, नव्यम्, आयु,. प्रसूतिर, कृधि, सहस्त्र, सामृषिम्।

आवाहन (आ) तुम्हारा (तू) हमारे (नः) हे यज्ञ महान (इन्द्र) अमर रश्मियों एवं ज्योतियों (मन्दसानः) के अमर भण्डार हे यज्ञ के गर्भकुण्ड (कौशिक) निचोड़े हुए हव्य (सुतम्) का पान कर, ग्रहण कर (पिब) तथा उसे नया जन्म नयी (नव्यम्) आयु (आयु) प्रदान करके अमर जन्म प्रसूति (प्रसूतिर) करके प्रकट कर (कृधि) तथा सहस्त्र सहस्त्र (सहस्त्र) तप, पूजा, साधनाओं, अर्चनाओं, समाधियों (साम् ऋषिम्) वरद कर। मधुच्छन्दा गगन उठे। क्षीरसागर में प्रवेश पाये। अनन्त हो जाये।

परि त्वा गिर्वणो गिर इमा भवन्तु विश्वतः।

वृदायुमनु वृद्धयो जुष्टा भवन्तु जुष्टयः।। १०/१२।।

परि, त्वा, गिर्वणो, गिर, इमा, भवन्तु, विश्वतः, वृदायु, मनु, वृद्धयो, जुष्टा, भवन्तु, जुष्टयः।

महाप्रलय काल में व्याप्त हो जाती (परि) सृष्टियां सम्पूर्ण तुममें (त्वा) सम्पूर्ण ज्ञान विज्ञान वेदादिक सहित (गिर्वणो) और यज्ञ होकर (गिर) तुममें फिर प्रकट (भवन्तु) होता, जीवन्त होता सचराचर, पाता जन्म (विश्वतः) तुम्हारी ही कृपा से। प्रलय काल में वृद्ध हो गया (वृदायु) समय काल (मनु) पुनः पाता नूतन दीर्घतम आयु (वृद्धयो) फिर से जीवन खोजता ज्ञान, विज्ञान, वेदादिक परम ज्ञान को, फिर योग और यज्ञ की राह जाते तापस, ज्ञानी, योगीजन (जुष्टा) फिर प्रकट होते अमरत्व

के मार्ग (जुष्टयो) जुड़ते पुनः आत्मा के यज्ञ से हो जाते अमर।

हे कृष्ण यही हैं यज्ञ के रहस्य। वाहय यज्ञ महास्नान हैं। यज्ञ से पूर्व, यज्ञ के योग्य होने की तैयारी है। इसके बिना आत्मयज्ञ में प्रवेश ही सम्भव नहीं है। फिर कोई यज्ञ करेगा कैसे ?

इसी यज्ञ को तुम क्षीर सागर में करते ग्रहों नक्षत्रों एवं आकाशगंगाओं की सृष्टि करते हो। इसी यज्ञ से तुम बन ब्रह्मा जीवात्माओं को क्षीर सागर में जन्मते हो। देह में जीवधारियों की, तुम बनकर आत्मा, यज्ञ के द्वारा यथा सन्तति के, नवजात शरीरों को जन्मते हो। तुम्हीं बन श्रीराम उनके जूठे भोजन को शबरी के अधखाये बेरों का सम्मान प्रदान करते उसी भोजन को यज्ञ के द्वारा शक्ति, ऊर्जा एवं नूतन सृष्टि में प्रकट करते हो। माया के वशीभूत सचराचर तुम्हारी लीला के इस अति गूढ़ रहस्य को नहीं जान पाते। माया से मोहित होकर असत्य एवं अज्ञान को ही सत्य मानते भटकते रहते हैं।

गोविन्द आपका मधुच्छन्दा के पास आकर यज्ञ के रहस्यों को जानने की उत्कंठा करना, मात्र लीला है। आप सर्वेश्वर हैं। आप ही सृष्टि का मूल हैं। आप मधुच्छन्दा को सम्मानित एवं वरद करने हेतु ही पधारें हैं। हे जगतात्मा ! हे गोविन्द ! मधुच्छन्दा को तथास्तु प्रदान करें ! अनन्त की राह पर जाने का कृपा आदेश प्रदान करें।

समाधिरथ हो गये थे मधुच्छन्दा और मौन बैठे थे श्रीकृष्ण ! स्तब्ध थे जेता माधुच्छन्द ! सृष्टि यज्ञों के रहस्यों का अनावरण करने के उपरान्त, मौन मधुच्छन्दा की देह से एक ज्योतिपुंज गगन में ऊपर उठता अनन्त में लीन हो गया था। पार्थिव अटल समाधिरथ स्थिर था।

जेता माधुच्छन्दसों की श्रद्धाञ्जली !

इन्द्रं विश्वा अवीवृधन्त् समुद्रव्यचसं गिरः।
रथीतमं रथीनां वाजानां सत्पतिं पतिम्।। ११/१।।

इन्द्रम्, विश्वा, अवी, वृधन्त्, समुद्रव्य, चश सम्, गिरः, रथीतमम्, रथीनाम्, वाजानाम्, सत्पतिम्, पतिम्।

हे यज्ञ। हे महान गुरू मधुच्छन्दा ! आज तुम आत्मा में व्याप्त होकर, स्वयं आत्मा श्रीकृष्ण बन गये हो। हे महान (इन्द्र) तुम जगत के (विश्वा) उत्पत्ति (अवी) एवं वृधि कर्ता (वृधन्त्) के महान पद पर सुशोभित हो। समुद्र के समान (समुद्रव्य) गहन अथाह ज्ञान एवं (च) तप (गिरः) है तुम्हारा। तुम जीवन के महारथी (रथीतमम्) महानतम रहे सदा, तुमने जीवन, आत्मा सारथि, जगतात्मा के हित मात्र में जिया। तपस्वियों में (रथीनाम्) यज्ञ के अधिष्ठाता ज्ञानियों में (वाजानाम्) तथा सत्पतियों (सत्पतिम्) में आप सबके अधिष्ठाता (पतिम्) रहे हैं। सत्य एवं आत्मनिष्ठा का जीवन तुम्हारा तुम्हें परमेश्वर तुल्य सम्मान एवं आस्था के सर्वोच्च स्थान पर स्थापित करता है।

सख्ये त इन्द्र वाजिनो मा भेम शवस्पते।
त्वामभि प्र णोनुमो जेतारमपराजितम्।। ११/२।।

सख्ये, त, इन्द्र, वाजिनो, मा, भेम, शवस्पते, त्वाम्, अभि प्र णोनुमो, जेतारम्, अपराजितम्।

आत्मा (सख्ये) हैं आप (त) महान (इन्द्र) यज्ञों (वाजिनो) के, ऐश्वर्य लक्ष्मी (मा) जीवन, धड़कन एवं ज्योति (भेम) हैं मृत्योन्मुखी देह को अमर करने वाले आप हैं (शवस्पते) आपके (त्वाम्) सम्मुख (अभि) हम सब प्राण प्रण से नमन में झुके हुए

(प्र णोनुमो) हैं आपके जेता माधुछन्दस (जेतारम्) आप हमें अपराजेय अर्थात अमर बनावे (अराजितम्) कभी न मार्ग से टलने वाले, अटल , अपराजेय।

चारों वेदों में सख्ये अथवा सखा शब्द का प्रयोग केवल आत्मा के लिये ही विशेषकर हुआ है। आत्मा जीवमात्र का सखा है, मित्र है। **मा** शब्द का प्रयोग लक्ष्मी तथा नकारात्मक भाव में होता है। यथा **मा लक्ष्मी धव** पति, **मा** मत **धव** दौड़ो।

पूर्वीरिन्द्रस्य रातयो न वि दस्यन्त्यूतयः। यदि वाजस्य गोमतः स्तोतृभ्यो मंहते मघम्।। ११/३।।

पूर्वीः, इन्द्रस्यं, रातयो, न, वि, दस्यन्त, उतयः, यदि, वाजस्य, गोमतः, स्तोतृभ्यो, मंहते, मघम्।

आदि काल से (पूर्वीः) महान यज्ञाग्नियों में (इन्द्रस्य) स्वयं को गूंथ, मथ डाला (रातयो) जिसने नकार कर (न) दसो इन्द्रियों के भटकावों (दस्यन्त) विशिष्ट (वि) आत्म ज्योतियों के हित में (उतयः) यदि (यदि) यज्ञ की सामिग्रीवत (वाजस्य) अर्पित हो ज्योतियों राह (गोमतः) यज्ञ में पा सका (स्तोतृभ्यो) अमर हो आत्मा में स्वयं को मिटा (मंहते) कर महान इन्द्र का अमर पद पाया उसने (मघम्)।

पुराम्भिन्दुर्युवा कविरमिततौजा अजायत। इन्द्रो विश्वस्य कर्मणो धर्ता वज्री पुरूष्टुतः।। ११/४।।

पुराम्, भिन्दुः, युवा, कविः, अमित, ओजा, अजायत, इन्द्रो, विश्वस्य, कर्मणो, धर्ता, वज्री, पुरूष्टुतः।

लोकों अथवा शरीरों को (पुराम्) छिन्न भिन्न करने वाला (भिन्दुः) भेदन करने वाला एक युवक (युवा) आत्मा के सदृश्य (कविः) अमित असीम (अमित) ओज, ज्योतियों से परिपूर्ण (ओजा) उत्पन्न हो (अजायत) गया है। यज्ञ के सम्पूर्ण (इन्द्रो) सृष्टी, उत्पति, धारण (विश्वस्य) एवं अमरता के ज्ञान कर्म (कर्मणो) को ईश्वर की भांति धारण करने वाला (धर्ता) अजर, अमर, अभेद, अखण्ड (वज्री) पौरूष एवं सत्ता से सम्पन्न। वे ही अब मधुच्छन्दा हैं।

त्वं बलस्य गोमतोऽपावरद्रिवो बिलम्।

त्वं देवा अबिभ्युषस्तुज्यमानास आविषुः।। ११/५।।

त्वं, बलस्य, गोमतो, अपः, अव, अद्रिवो, बिलम्, त्वं, देवा, अबिभ्युषः, तुज्यमानास, आविषुः।

आप हैं (त्वं) बल एवं शक्ति (बलस्य) ज्योतिर्मय आत्म सुमति (गोमतो) आप ही जल की भांति (अपः) मन बुद्धि एवं विचारों को अतिशय निर्मल करने वाले (अव) आप ही पर्वतों (अद्रिवो) के समान सत्य को वहन करने वाले वज्र से अटल तथा असत्य को छिन्न भिन्न (बिलम्) करने वाले। हे देव (देवा) आप (त्वं) हैं उत्पत्तिदाता, सब में व्याप्त (अबिभ्युषः) आप ही हैं सर्वोच्च प्रतिष्ठा (तुत्यमानास) को प्रदान करने वाले (आविषु)।

तवाहं शूर रातिभिः प्रत्यायंसिन्धुमावदन।

उपातिष्ठन्त गिर्वणो विदुष्टे तस्य कारवः।। ११/६।।

तवाहम्, शूर, रातिभिः, प्रत्यायम्, सिन्धुम्, आवदन्, उपातिष्ठन्त, गिर्वणो, विदुष्टे, तस्य, कारवः।

आप हैं (तवाहम्) शूरवीरों, यज्ञ अश्व महायोगियों (शूर) की पूर्ण एवं मंगल कामना (रातिभिः) उपमा हैं आप (प्रत्यायम्) क्षीर सागर में शयन करते महाविष्णु (सिन्धुम् आवदन्) की, संग विराजते हैं आप, समान हैं (उपातिष्ठन्त) देवगुरू बृहस्पति के (गिर्वणो) आप से सचेत होते, ज्ञान पाते हैं (विदुष्टे) ऐसे, इस प्रकार (तस्य) यज्ञकर्त्ता ज्ञानीजन, सिद्ध एवं समर्थ (कारवः)।

मायाभिरिन्द्र मायिनं त्वं शुष्णमवातिरः।

विदुष्टे तस्य मेधिरास्तेषां श्रवांस्युतिरः।। ११/७।।

मायाभिः, इन्द्र, मायिनम्, त्वम्, शुष्णम्, अवातिरः, विदुष्टे, तस्य, मेधिराः, तेषाम्, श्रवाम, उत्, तिरः।

माया पतियों में (मायाभिः) आप महाविष्णु हैं (मायिनम्) आप (त्वम्) प्रलयंकरों में (शुष्णम्) महारूद्र के अवतार हैं (अवातिरः) महामृत्युञ्य हैं। योगियों एवं ज्ञानियों में (विदुष्टे) आप उनको (तस्य) मेधा बुद्धि से वरद (मेधिराः) करने वाले तथा उत्पत्ति दाता परंब्रह्म (श्रवाम) के समान आप उनके (तेषाम्) संशयों (उत् तिरः) का निवारण करने वाले हैं।

हे महा गुरू ! हे मधुच्छन्दा ! आज आप अजेय परम पद को पाकर परमेश्वर के समान सचराचर के नियन्ता के पद पर सुशोभित हो गये हैं। जिस मार्ग की चर्चा श्रुतियां करती थीं तथा जिसे ज्ञानी तापस आश्चर्य की ज्यों सुनते थे। हे देव ! आपने उसे विजय कर दिखाया है।

इन्द्रमीशानमोजसाभि स्तोमा अनूषत।

सहस्त्रं यस्य रातय उत वा सन्ति भूयसीः।। ११/८।।

इन्द्रम्, ईशानम्, ओजसा, अभि, स्तोमा, अनूषत, सहस्त्रम्, यस्य, रातय, उत, वा, सन्ति, भूयसीः।

महान (इन्द्रम्) परमेश्वर (ईशानम्) सूर्य के सदृश्य ज्योतियों (ओजसा) के यज्ञ (स्तोमा) का सम्मुख (अभि) करने की मंगल कामना वाले (अनूषत) हम जेता माधुच्छन्दस सारे असंख्य असंख्य (सहस्त्रम्) सुखों एवं अनन्त तृप्ति (रातय) होती है जिससे (यस्य) ऐसे ही यज्ञ में बारम्बार स्थित होने की (उत वा) प्रार्थना करते हैं (सन्ति भूयसीः)।

हम सब इस महान यज्ञ को जीवन का लक्ष्य बनावें। मनुष्य योनि की मात्र यही एक मात्र उपलब्धि है। धन साथ नहीं ले जा सकते। तन, शरीर भी छोड़कर ही जीव को जाना होगा। ज्ञान और विचार भी पीछे छूट जाते हैं। जिसने इस यज्ञ को पा लिया उसने सचराचर को विजय कर लिया सदा सदा के लिये। उसका कुछ भी पीछे छूटने वाला नहीं है। उसे काल भी अतीत नहीं कर सकता। एक नित्य अवस्था तथा अमर ज्ञान का स्वामी तथा उत्पत्ति सृष्टि का नियन्ता बन जाता है।

अश्रुपूरित नेत्रों से सभी ने आदि मधुच्छन्दा को श्रद्धाञ्जली अर्पित की है। बालकों का यज्ञोपवीत का संस्कार अब पूर्ण हुआ है। बालक अमर ज्ञान को पाकर धन्य हैं। यह ज्ञान उनके जीवन की दिशा है। उनके कन्धे पर टंगे तीन तागे, अब मात्र

तीन तागे भर ही नहीं है। उनके जीवन के सूत्र हैं। जीवन, जो अति मूल्यवान है। तीन तागों का यज्ञोपवीत, यज्ञ की अग्नियों के सदृश्य उनके कन्धों पर धधक उठा है। बालकों के चेहरे अति गम्भीर, विचार मग्न हो उठे हैं। जीवन को व्यर्थ ही तथाकथित क्षण भंगुर आसक्तियों के लिये खोकर, एक पराजित योद्धा की भांति, जीवन से पतित योनियों में प्रायश्चित हेतु गमन करना। अथवा मधुच्छन्दा की भांति जीवन जयी होकर अनन्त की राह में बढ़ते चले जाना ? दोनो रास्ते स्पष्ट हैं। सन्देह का कोई स्थान अब नहीं है। निर्णय की घड़ी है। बालक गम्भीर हैं।

यज्ञ, यज्ञोपवीत और ऋषि मधुच्छन्दा, उनके जीवन की निरन्तर राह बन गये हैं। नित्य सन्ध्या, हवन, पूजा, पाठ, अब बालक जीवन पर्यन्त नियम एवं श्रद्धापूर्वक करते रहेंगे। ये नियम अटल हैं।

वे नाना ज्ञान विज्ञान में गुरूकुल में पारंगत होंगे। समय के साथ उत्तीर्ण होकर जीवन के विभिन्न कार्यक्षेत्रों में योग्यतानुसार स्थापित होंगे। परन्तु उनके जीवन के अटल नियम सदा चलते रहेंगे। वे यज्ञोपवीत, यज्ञ एवं मधुच्छन्दा से कभी अलग नहीं होंगें। यह अमृत ज्ञान उन्हें लिप्सा, वासना अथवा लोभ के अन्धकार में कभी भटकने नहीं देगा। ज्ञान का सूरज उनकी अन्धेरी राहों को प्रकाशित करता रहेगा। जीवन के अभीष्ट से वे कभी दूर नहीं होंगे। उनसे समाज, मानवता तथा धर्म सदा जगमग रहेगा। उनके कृत्यों से धन्य एवं ऋणी रहेगा। एक सुखद, वरद, सम्मुन्नत एवं दिशापरक संस्कृति की महान कल्पना बनकर जीयेंगे वे सब।

अब ऐसी शिक्षा की कल्पना कहां ???

नया यज्ञोपवीत :– १. अच्छी नौकरी। २. तगड़ी तन्ख्वाह और सुविधा। ३. मोटी ऊपर की आमदनी (घूस)

जीवन के समीकरण

गुरूकुल शिक्षा नें जीवन के मूल उद्धेश्यों को छात्र सहित शिक्षा का सूत्र माना था। भौतिकताओं को उसके निमित्त धर्म के रूप में पूरी मान्यता प्रदान की गयी थी। भौतिक ज्ञान एक सुखद व्यवस्थित एवं सम्मानित जीवन के लिये परमावश्यक है। परन्तु वह जीवन व्यवस्था से अधिक तो कुछ भी नहीं हो सकता। जबकि. आध्यात्मिक ज्ञान उसे जीवन के परम लक्ष्य और अमरता की ओर सदैव चेष्ठारत रखता है। ऐसा करने से सामूहिक एवं सामाजिक दृष्टि से भी उसका जीवन अति बहुमूल्य हो उठता है। उससे समाज पवित्र एवं शिक्षाप्रद होता है। कुरीतियों एवं दुर्व्यसनो के चलन से बचा जा सकता है।

इनकी आधारशिला गुरूकुल में गुरू एवं आचार्यो द्वारा संयुक्त रूप से प्रदान की जाती थी। आचार्य उसके वाहय जीवन का अमृत है, तो गुरू उसके अन्तर्मन की आंखें हैं। वाहय जीवन निमित्त धर्म है, तो अन्तः स्थल उसके सार्थक जीवन का कर्मक्षेत्र है। दोनो ही महान हैं। दोनो ही एक दूसरे के पूरक हैं। किसी की भी उपेक्षा नहीं हो सकती।

आचार्य उसे मन्दिर में ले जा कर उसके जीवन में आस्था एवं पवित्रता का संचार करता है। गुरू उसे उसके शरीर में मन्दिर दिखाकर उसकी आस्था एवं पवित्रता को नित्य अमर बना देता है। उसे चक्षु से वरद कर, त्रिनेत्र बना देता है।

आचार्य उसके जीवन में वाहय हवन, यज्ञादिक का अमृत संचार करता है। गुरू उसके भीतर हो रहे हवन, यज्ञादिक से परिचित करवा कर तथा उसे आत्मयज्ञ के सूत्र से वरद कर, उसे अमर राह प्रदान करता है। उसे जीवन को भटकावों और पीड़ाओं से, सदा के लिये दूर कर सुखद, वरद तथा लक्ष्यपरक बना देता है।

उसके कन्धे पर गान्डीव की भांति रखा तीन तागों का यज्ञोपवीत उसे एक जीवन जयी महारथी के भाव से सदा ओतप्रोत किये रहता है। वह कैसे भटक सकता है। वह तो एक लम्बी लड़ाई का सूरमा है। उसे जीवन को जीतकर अमर होना है। इसलिये उसे अमर जीवन ही जीना है। पाप कदापि नहीं करेगा। भटक नहीं सकता, चाहे कारण कुछ भी हो।

वह कैसे भूल सकता है कि वह धरा पर आकाश गंगाओं की धरोहर है। वह कोई साधारण जड़ों से हीन निम्न प्राणी भर नहीं है। उसे अपने पूर्वजों की ज्योति को सदा प्रज्जवलित रखना है। वह क्षीरसागर की सम्पत्ति है। मैला कैसे हो सकता है ? यह सब उसने पवित्र गुरूकुल से पाया है।

वह धरती पर श्रीहरि का निमित्त है। परमेश्वर घटघट वासी आत्मा बनकर जीवन का संचार एवं धारण पालन करते हैं। वह उनका वरद पुत्र है। जिन्हें आत्मा पिता बना रहा है, वह माली बन उन सबकी रक्षा करेगा। पिता का सहयोगी बनेगा। हत्यारा तो कदापि नहीं।

पिता बाग का मालिक है। मैं अपने पिता के बाग का माली बन, पिता का सहयोग करूंगा। सबमें एक आत्मा का भाव एवं प्यार रखूंगा। मैं सचराचर को अतिशय प्यार दूंगा। अपने पिता का वरद पुत्र बनूंगा।

मित्र मेरे !

अतीत के अन्तरालों से हम पुनः वर्तमान में लौट आये हैं। जीवन पहेली की खोज में हमने अतीत के वैज्ञानिक ऋषि मधुच्छन्दा के यज्ञोपवीत संस्कार के साथ ऋग्वेद के आरम्भ के ग्याराह सूक्त संक्षेप में जाने हैं। हम फिर शीघ्र ही लौटेंगे गुरूकुल में और ज्योतिर्वेद की कक्षा में प्रवेश करेंगे। यज्ञोपवीत, यज्ञ एवं एक ऋषि के अतिरिक्त प्रत्येक छात्र को अनिवार्य रूप से ज्योतिर्वेद में पारंगत होना अनिवार्य है।

वैदिक काल की गुरूकुल शिक्षा में अब तक हमने निर्बिवाद रूप से पाया है कि जीवन का स्थानान्तरण भूमण्डल पर क्रमबद्ध रूप से हुआ था। अमीबा अथवा बैक्टीरिया जैसे एक कोशीय जीव से तो कदापि नहीं। इसकी चर्चा का आरम्भ हमनें "ज्योतिर्वेद के विभ्नि सोपान " प्रथम खण्ड में किया है। डारविन की कल्पना पर भी हमने चर्चा का आरम्भ किया है। अब हमारे सामने वेद द्वारा प्रतिपादित मान्यता भी है। जीवन पहेली के नये समीकरण जिसमें जीव अथवा जीवात्मा की उत्पत्ति क्षीरसागर में हुई। एक बिल्कुल अछूता दृष्किोण हमारे सामने है। यदि ऐसा है तो हमें पहेली का सही हल भी वहीं पर ही मिलेगा। इसके नाना पहलु अभी जानना बाकी है।

अगले खण्ड में हम ज्योतिर्वेद को पुनः गुरूकुल में जाकर पढ़ेंगे। अतीत के युगों ने इसे महावेद कहकर क्यों सम्मानित किया ? हमें अगली खोज में इसे जानना परमावश्यक है। बहुत से विस्मय एवं अवाक कर देने वाले रहस्य वहां पर हमारी प्रतीक्षा कर रहे हैं। प्रत्येक पञ्चांग में, अनन्त काल से, नियमित रूप से पृथ्वी की उत्पत्ति, यथा स्थिति, परिक्रमाओं के रहस्य, ग्रहों एवं नक्षत्रों के स्वरूप तथा उनकी प्रत्येक समय की स्थिति का सही समयबद्ध मूल्यांकन के साथ ही उनकी आकाश में सही स्थान पर स्थिति, गति तथा दूरी एवं अवस्था का सही आंकलन, कैसे सम्भव हुआ ? इस गणना को सदा जीवन्त रखने के क्या कारण हैं ? क्यों धरती का मानव आकाश गंगाओं के विषय में प्रत्येक समय का सही मूल्यांकन

करना चाहता था ? उसका यदि उन आकाशगंगाओं से सम्बन्ध नहीं था तो उसने आकाशगंगाओं को केन्द्र मानकर " काल–निरूपण–प्रणाली" क्योंकर बनायी ? उन्हें इनका ज्ञान कैसे और क्योंकर हुआ ? उनके द्वारा बनायी गयी समय की व्यवस्था को विश्व आज तक क्यों मानकर चल रहा है ? समय की गणना की दूसरी प्रणाली क्यों नहीं बनायी गयी ?

रहस्य और रोमांच से भरी इस अदभुत यात्रा में हम फिर उसी काल में प्रवेश करने जा रहे हैं। हमारी खोज अभी आरम्भिक अवस्था में है। फिर मिलेंगे।

हरि ऊं ! नारायण हरि!